



एम.ए.एच.आई. -03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

एम.ए. पाठ्यक्रम

(इतिहास)

एम.ए.एच.आई. -03- आधुनिक विश्व का इतिहास - 1
(युद्ध एवं औद्योगिक समाज-1917-1945)

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

एम.ए. पाठ्यक्रम
(इतिहास)

खण्ड-1

इकाई संख्या

इकाई 1	
सन् 1918-1919 का रूपान्तरण और पेरिस समझौता सम्मेलन	5-17
इकाई 2	
सामूहिक सुरक्षा एवं निःशस्त्रीकरण	18-28
इकाई 3	
फ्रांस द्वारा सुरक्षा की खोज	29-39
इकाई 4	
आर्थिक थकान-क्षतिपूर्ति की समस्या	40-60
इकाई 5	
राष्ट्र संघ और अंतर्राष्ट्रीय शान्ति एवं व्यवस्था का उत्थान और पतन	61-87

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. बी.एस. शर्मा, कुलपति (अध्यक्ष)

प्रो. रविन्द्र कुमार

निदेशक, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं
पुस्तकालय, नई दिल्ली

प्रो. एस.पी. गुप्ता

इतिहास विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम
विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

प्रो. के.एस. गुप्ता

पूर्व इतिहास विभागाध्यक्ष, मोहन लाल
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

डा.श्रीमती कमलेश शर्मा

इतिहास विभाग, कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. बी.आर. गोवर

पूर्व निदेशक, भारतीय इतिहास
अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली

प्रो. जे.पी. मिश्रा

पूर्व इतिहास विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा. बृजकिशोर शर्मा

इतिहास विभागाध्यक्ष, कोटा
खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

डा. याकूब अली खान

इतिहास विभाग कोटा खुला
विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डा. कर्ण सिंह

राजनीति विज्ञान विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा. जे.एन. श्रीवास्तव

इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय कोटा

डा. एच.सी. जैन

इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय कोटा

डा. जे.पी. शर्मा

इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा. एच.सी. जैन

इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय कोटा

पाठ्यक्रम प्रभारी एवं सम्पादक

डा. याकूब अली खान्

इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो.(डॉ.)बी.के. शर्मा
निदेशक(अकादमिक)
संकाय विभाग

योगेन्द्र गोयल
प्रभारी अधिकारी
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन -Oct 2012 MAHI-03/ISBN No.-13/978-81-8496-262-8

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इकाई- 1

1918-1919 का रूपान्तरण और पेरिस समझौता

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 परिचय
- 1.2 पेरिस शांति सम्मेलन
 - 1.2.1 पेरिस शांति सम्मेलन का गठन और कार्यविधि
 - 1.2.2 पेरिस शांति सम्मेलन की कठिनाईयां
 - 1.2.3 पेरिस शांति सम्मेलन का वातावरण
- 1.3 वर्साय की संधि
 - 1.3.1 संधि का स्वरूप
 - 1.3.2 संधि में की गई सैनिक, आर्थिक व्यवस्थाएं व क्षतिपूर्ति
 - 1.3.3 जर्मनी पर संधि का प्रभाव
 - 1.3.4 वर्साय की संधि का मूल्यांकन
- 1.4 अन्य लघु संधियां
 - 1.4.1 साजमें की संधि
 - 1.4.2 त्रियानों की संधि
 - 1.4.3 निऊली की संधि
 - 1.4.4 सेब्र की संधि
- 1.5 पेरिस शांति सम्मेलन का सारांश
- 1.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

यह इकाई प्रथम विश्व युद्ध के बाद विश्व में स्थाई शांति व्यवस्था कायम करने से सम्बंधित है। जिसमें पेरिस शांति सम्मेलन मुख्य है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- प्रथम विश्व युद्ध के बाद विश्व की स्थिति को समझ पायेंगे।
- पेरिस शांति सम्मेलन की प्रकृति एवं प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- वर्साय की संधि की भूमिका एवं उसका महत्व जान सकेंगे।
- अन्य लघु संधियों का मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

1.1 परिचय

शांति समझौता प्रत्येक विश्वयुद्ध के बाद उससे उत्पन्न समस्याओं एवं विवादों के निराकरण के लिए युद्ध से सम्बद्ध दलों के बीच होने वाली प्रक्रिया है। प्रथम विश्वयुद्ध के उत्तरार्द्ध में कई दलों खासकर, मित्र शक्तियों द्वारा शांति की कई योजनाएं एवं प्रस्ताव रखे गए ताकि, युद्ध के बाद स्थायी शांति समझौते हो सकें। इसलिए, नवम्बर, 1919 के युद्ध विराम के

तुरन्त बाद एक शांति सम्मेलन के लिए शीघ्र तैयारियां की गईं, जो अंततः 18 जनवरी, 1919 से पेरिस में शुरू हुईं। यह 32 मित्र देश एवं संलग्न शक्तियों के प्रतिनिधियों का महान् सम्मेलन था। वहां उपस्थित महत्वपूर्ण व्यक्तियों में अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज, फ्रांस के प्रधानमंत्री मार्कोली से ओन्जी तथा दक्षिण अफ्रीका के जनरल बोधा एवं स्मिथ सर्वप्रमुख थे। इस सम्मेलन की खास विशेषता यह थी कि पराजित राष्ट्रों में से किसी को भी तब तक निमन्त्रित नहीं किया गया जब तक विजेता मित्र देशों के बीच संधि की शर्तों पर एक आम सहमति नहीं हो गयी।

सम्मेलन के कार्यों का सम्पादन अमेरिका के वुडरो विल्सन, फ्रांस के क्लीमेन्सों एवं ब्रिटेन के लॉयड जार्ज आदि तीन बड़े लोगों द्वारा हुआ। किन्तु, सम्मेलन के कार्यों पर विद्यमान परिस्थितियों एवं वस्तुनिष्ठ सच्चाइयों का प्रभाव भी पड़ा, जो इन नेताओं के नियंत्रण के बाहर था। यह सम्मेलन विभिन्न प्रकार के दवाबों के अधीन था। युद्ध के दौरान की गई गुप्त संधियों को समायोजित करने की समस्या, एवं भागीदारों के प्रतिद्वंद्वी दावों एवं राष्ट्रीय हितों ने सम्मेलन के कार्यों को और भी जटिल बना दिया। राष्ट्रवादी शक्तियों एवं राष्ट्रीय स्वनिर्धारण के दावों ने भी जटिल कठिनाइयां पैदा कर दीं। जर्मनी को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराकर उससे क्षतिपूर्ति की मांग सारे यूरोप में की जाने लगी।

पेरिस का शांति सम्मेलन 15 जनवरी, 1919 को औपचारिक उद्घाटन के पश्चात् विशेष एवं कूटनीतियों की विभिन्न समितियों एवं संघों द्वारा संपादित होने लगा। इसमें भाग ले रहे 32 देशों के लक्ष्यों, हितों एवं उद्देश्यों में परस्पर मुठभेड़ के कारण बुनियादी मुद्दों पर समझौता होना मुश्किल हो रहा था। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने, अपने "चौदह सूत्रों" का प्रतिपादन किया जो निम्न हैं-

- (i) खुले ढंग से खुली शांति की जाये। शांति का समझौता गुप्त रूप से नहीं हो।
- (ii) युद्ध और शांति के दिनों में सामुद्रिक आवागमन की स्वतन्त्रता हो।
- (iii) यथासंभव सभी आर्थिक अवरोध हटाये जाये, अर्थात् राष्ट्रों के बीच किसी प्रकार की आर्थिक दीवार न हो।
- (iv) अस्त्र-शस्त्रों को निम्नतम सीमा तक घटा दिया जाए जिससे राष्ट्रों के बीच हथियारों की होड़ बन्द हो।
- (v) जनता की इच्छा और हितों का पूरा ख्याल रखते हुए उपनिवेश सम्बन्धी समस्याओं का उचित और निष्पक्ष फैसला हो।
- (vi) रूस के प्रदेशों को खाली कर दिया जाय और अपने राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय निर्धारण को उसकी स्वाधीनता को मान्यता दी जाये।
- (vii) बेल्जियम को खाली कर दिया जाये, उसके तटस्थीकरण को मान लिया जाये और उसकी प्रभुसत्ता सीमित करने का प्रयास नहीं किया जाए।
- (viii) सम्पूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों को मुक्त कर दिया जाए। उसके वे प्रदेश जिन पर विदेशियों का अधिकार है लौटा दिये जाएं। 1871 में ऐल्सस लोरेन लेकर उसके साथ जो अन्याय हुआ था उसको समाप्त किया जाये।

(ix) राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को ध्यान में रखकर इटली की सीमाओं का पुनः निर्धारण हो।

(x) ऑस्ट्रिया के साम्राज्य में विविध जातियों के राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाए।

(xi) रूमानिया, सर्बिया और मण्टेनिग्रो को खाली कर दिया जाए। उनके जिन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया है, उन्हें लौटा दिया जाए। सर्बिया को समुद्र तट तक पहुँचने की सुविधा दी जाये। ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर बाल्कन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित किया जाये।

(xii) तुर्की साम्राज्य को अपने वास्तविक भू-भाग पर बने रहने दिया जाये, परन्तु तुर्की के शासन में रहने वाली अन्य जातियों के स्वतन्त्र राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबन्ध किया जाये, डार्डीनल्स को स्थायी रूप से सभी राष्ट्रों के लिए खोल दिया जाये जिससे सभी देशों के जहाजों और व्यापार के और यातायात का खुला मार्ग प्राप्त हो सके।

(xiii) एक ऐसे स्वाधीन पोल-राज्य की स्थापना की जाये जिसमें पोल-जाति के सभी लोग यथासम्भव सम्मिलित हो सकें। उन्हें समुद्र-तट तक पहुँचाने के लिए स्वतन्त्र और सुरक्षित मार्ग प्राप्त हो और एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा पोलैण्ड की स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारंटी दी जाये।

(xiv) राष्ट्रों का एक संघ कायम किया जाये जिसके द्वारा बड़े और छोटे राज्यों को समान रूप से राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक आश्वासन प्राप्त हो।

राष्ट्रपति बुडरो विल्सन इन "चौदह सूत्रों" कार्यक्रम के तहत राष्ट्रसंघ की स्थापना पर काफी बल दे रहे थे, अपनी योजनाओं पर समर्थन पाने के लिए रियायतें अन्य साथी भागीदारों को देनी पड़ी। काफी वार्ताओं एवं समझौतों के बाद अंततः 7 मई, 1919 को एक शांति संधि तैयार कर जर्मनी को पेश की गई। जर्मनी ने इसका विरोध करने हुए इसे 'चौदह सूत्रों' के विरुद्ध एवं असहनीय बताया। किन्तु, मित्र देशों के राजनीतिज्ञ जर्मनी के प्रति उदासीन थे। जर्मनी के पास बिना शर्त मित्र देशों के पास शांति की शर्तें मानने के अलावा और कोई चारा नहीं था, अन्यथा उस पर इन देशों का कब्जा हो जाता। पेरिस शांति सम्मेलन में निम्नलिखित पांच संधियां की गईं

- (1) जर्मनी के साथ 28 जनवरी, 1919 को वर्साय की संधि,
- (2) 2 सितम्बर, 1919 को ऑस्ट्रिया के साथ सेंटजर्मेन की संधि,
- (3) 27 नवम्बर, 1919 को वल्गेरिया के साथ नेविल्ली की संधि,
- (4) 4 जून, 1920 को हंगरी के साथ ट्रायनन की संधि, तथा
- (5) 10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ सेव की संधि।

1.2 पेरिस शांति सम्मेलन

1.2.1 पेरिस शांति सम्मेलन का गठन और कार्य विधि

18 जनवरी, 1919 को फ्रांस के विदेश मन्त्रालय में फ्रांसीसी राष्ट्रपति पोअन्कारे ने शांति-सम्मेलन के प्रारम्भिक अधिवेशन का उद्घाटन किया और क्लीमॉसों को इस सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया ।

सम्मेलन को सुचारु रूप से चलाने के लिए दस सदस्यों की एक सर्वोच्च परिषद् बनी । लेकिन यह भी भारी पड़ने लगी तो इसे घटा कर पांच बड़ों की परिषद् बना दी गई । पहले पांच बड़ों के दो-दो प्रतिनिधि थे । अब एक-एक ही रह गया । वे बड़े राष्ट्र थे : अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान । जापान इससे अलग हो गया और तब चार बड़े ही रहे गये । इटली के प्रतिनिधि ने भी फ्यूम के मामले में विल्सन से असंतुष्ट होकर सम्मेलन का बहिष्कार किया और इस प्रकार अन्त में तीन तिलंगे ही बचे रहे : अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस । अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लायड जार्ज और फ्रांस के क्लीमॉसो-इन तीन बड़ों ने दुनिया का नया मानचित्र निर्धारित करने का उत्तरदायित्व सम्भाला ।

इन तीन बड़ों के अतिरिक्त सम्मेलन में अड़तालीस के लगभग छोड़े-बड़े राष्ट्र केवल सलाहकार-समितियों में ही भाग ले सकें । इनका कार्य था कि वे विविध समस्याओं, राष्ट्रसंघ का संगठन, हरजाने की रकम, अल्पसंख्य जातियों की समस्या इत्यादि प्रश्नों पर विचार करके अपनी रिपोर्ट पेश करें, पर इनकी रिपोर्ट पर अन्तिम निर्णय देने का अधिकार सर्वोच्च शांति-परिषद् को ही था । सम्मेलन का काम केवल इसी निर्णय का अनुमोदन करना था ।

इस प्रकार कुल मिलाकर असर तीन बड़े नेताओं का ही रहा । पेरिस शांति-सम्मेलन की कार्यवाहियों पर स्पष्टतः तीन इन बड़ों की गहरी छाप पड़ी । मुख्यतः इनके बीच तय हुई बातें ही अंत में शांति समझौते का अंग बन गई । इन तीन 'बड़ों' का वर्णन करते समय बहुत सारी स्याही बेकार ही इन्हें "वास्तव में बड़ा" सिद्ध करने में खर्च की गई है । इस प्रसंग में जवाहरलाल नेहरू ने कहा था - "यह कार्य महामानवों और देवताओं के योग्य था और ये तीनों न तो कोई महामानव थे और न देवता ।

1.2.2 पेरिस शांति-सम्मेलन की कठिनाईयाँ

प्रत्येक युग में और प्रत्येक युद्ध के बाद शान्ति-स्थापना का कार्य अत्यन्त कठिन रहा है । अगस्त, 1914 में सर्बिया तथा ऑस्ट्रिया के झगड़े को लेकर जो विश्वयुद्ध छिड़ा । वह मानव इतिहास का एक बड़ा ही भयंकर और दीर्घकालीन युद्ध था । उस समय कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता था कि यह युद्ध चार वर्ष से भी अधिक दिनों तक चलता रहेगा । वर्षों के इस विनाशकारी संघर्ष के बाद 11 नवम्बर, 1918 को ग्यारह बजे दिन में, राष्ट्रपति विल्सन के प्रस्तावों के आधार पर, जर्मनी तथा मित्रराष्ट्रों के बीच युद्धविराम-संधि पर हस्ताक्षर हुए और प्रथम विश्व युद्ध का अन्त हुआ ।

विश्वयुद्ध तो किसी प्रकार समाप्त हुआ, पर वह अनेक प्रकार की ऐसी जटिल और भीषण राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएँ छोड़ता गया जैसी संसार के समक्ष पहले कभी उपस्थित नहीं हुई थी। युद्ध की समाप्ति के बाद समूचे विश्व के सम्मुख सबसे बड़ा और जटिल प्रश्न स्थायी शांति की व्यवस्था करना था। इसलिए 18 जनवरी, 1919 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक शांति-सम्मेलन किया गया, जिसका नाम पेरिस शांति-सम्मेलन रखा गया था। इस सम्मेलन के सामने सबसे बड़ी कठिनाई विल्सन के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शवाद और यूरोप के विभिन्न विजेता राष्ट्रों की राष्ट्रीय सुरक्षा की तात्कालिक आवश्यकता के बीच एक मध्यम मार्ग खोजने की थी। मित्र राज्यों की युद्धकालीन गुप्त सन्धियों के कारण यह कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। इन सन्धियों के द्वारा विभिन्न राज्यों ने एक दूसरे को यह आश्वासन दिया था कि अन्तिम समझौते के समय वे एक दूसरे की साम्राज्य लिप्सा को तृप्त होने में सहायता प्रदान करेंगे। प्रथम विश्व युद्ध उदार सिद्धान्तों को सामने रखकर लड़ा गया था। युद्ध के समय समानता स्वतंत्रता लोकतन्त्रवाद को नारे बुलन्द किये गये थे, पर युद्ध के बाद विजय के मद में चूर होकर मित्रराज्य इन सारे सिद्धान्तों को भूल गये थे। वे अब इस चिन्ता में थे कि पराजित शत्रुओं से किस प्रकार अधिक से अधिक हरजाना वसूल किया जाये और किस प्रकार उनके भग्नप्राय साम्राज्य को आपस में बाँट लिया जाये। कहने को तो अब भी सारे फैसलों के आधार राष्ट्रपति-विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सूत्र थे, पर वास्तव में विल्सन के सूत्र केवल आदर्शमात्र ही थे, क्रिया में उन्हें कोई महत्व नहीं दिया गया। विश्वयुद्ध के समय की गुप्त संधियाँ विल्सन के उदार सिद्धान्तों के प्रतिकूल और विरोधी थी। ब्रिटेन और फ्रांस गुप्त आश्वासनों को पूरा करने के लिए विवश थे, उन्हें विल्सन के आदर्शवादी सूत्रों की कोई परवाह नहीं थी।

लेकिन, गुप्त सन्धियों को कार्यान्वित करने में कठिनाईयाँ भी कम नहीं थी। नवम्बर, १९१७ में समाजवादी क्रांति के बाद सोवियत रूस की सरकार ने इन सन्धियों को प्रकाशित करके साम्राज्यवादियों के युद्ध के वास्तविक उद्देश्यों का भण्डाफोड़ कर दिया। इस कारण मित्र राज्य बड़ी पशोपेश में पड़ गये। इसके अतिरिक्त इस सम्मेलन की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इन सन्धियों में संयुक्त राज्य अमेरिका सम्मिलित नहीं था। अतएव, इनको पूरा करने का दायित्व उस पर नहीं था, लेकिन अन्तिम समझौते में अमेरिका के विचारों की अवेहलना भी नहीं की जा सकती थी। अमेरिका के राष्ट्रपति ने स्पष्ट शब्दों में इन गुप्त सन्धियों का विरोध किया था क्योंकि यदि इन सन्धियों को कार्यान्वित किया जाता, तो राष्ट्रवाद और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। गुप्त सन्धियों के साथ एक और कठिनाई उपस्थित हो गयी थी कि समाजवादी क्रांति के उपरान्त सोवियत सरकार ने स्वेच्छा से इन सन्धियों से अपने को अलग कर लिया था।

परन्तु, इन कठिनाईयों के बावजूद शांति-समझौते में इन सन्धियों को स्थान दिया गया। सम्मेलन में जब भी विल्सन के सिद्धान्तों और इन सन्धियों में टक्कर हुई तो उस समय इन सन्धियों को ही प्रथम स्थान मिला। पेरिस की शांति-सन्धियों पर इन सन्धियों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

1.2.3 पेरिस शांति सम्मेलन का वातावरण

पेरिस शांति सम्मेलन का वातावरण सम्मेलन के लिए दूसरी कठिनाई उपस्थित कर रहा था। विजयी राष्ट्रों में प्रतिशोध की भावना चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और वे पराजित राष्ट्रों को सदा-सर्वदा के लिए कुचल देना चाहते थे। 'जर्मनी और उसके साथी' राज्य हारे हैं और हम विजयी हैं," यह बात हमेशा उनके दिमाग में बनी रहती थी और इस स्थिति से वे पूरा लाभ उठाना चाहते थे। स्थायी शांति के लिए ऐसी मनोवृत्ति या इस प्रकार का वातावरण उपयुक्त नहीं होता। जैसा कि स्पष्ट है, शांति-सम्मेलन में दो विचारधाराओं, में संघर्ष था। एक चाहता था कि ऐसा निष्पक्ष न्याय हो जिसमें विजित देशों की भावनाओं पर विचार किया जाये। दूसरा पक्ष चाहता था-जैसा कि प्रायः शांति-सम्मेलनों में हुआ करता है कि शक्ति सन्तुलन बना रहे, पराजित देश पुनः शांति भंग न कर सके तथा विजित राष्ट्रों को प्रादेशिक और आर्थिक लाभ हो। अतः शांति-सम्मेलन का काम बड़े अशांत और संघर्षपूर्ण वातावरण में हुआ। कई बार "चार बड़ों" में तीव्र मतभेद के कारण संधिवार्ता भंग होने की नौबत भी आ गयी। विजितों के साथ विल्सन नरम रुख का अवलम्बन करना चाहता था, इसलिए फ्रांस के समाचार-पत्रों में उसकी कटु आलोचना होने लगी। उस पर व्यक्तिगत आक्षेप भी किये गये। इन आलोचनाओं और आक्षेपों के कारण एक बार तो स्थिति इतनी गम्भीर हो गयी कि राष्ट्रपति विल्सन ने अमेरिका लौट जाने का निर्णय कर लिया। इटली का प्रधानमंत्री ओर-लैण्डोफ्यूम के प्रश्न पर रूढ़ होकर अपने साथियों सहित सम्मेलन से हट गया और रोम चला गया। बाद में तीन राष्ट्रों के निमन्त्रण पर वह फिर वापिस आया। जापानी प्रतिनिधि दल ने भी सम्मेलन का बहिष्कार करने की धमकी दी, पर मनमुटाव के इस वातावरण में भी सम्मेलन ने किसी तरह अपना कार्य पूर्ण किया। सम्मेलन ने अड़तालीस आयोगों द्वारा लगभग सोलह सौ बैठकें करके जर्मनी के साथ एक सन्धि का प्रारूप तैयार किया जिसको वर्साय की सन्धि कहते हैं।

1.3 वर्साय की सन्धि

1.3.1 सन्धि का स्वरूप

पेरिस शान्ति-सम्मेलन में अनेकानेक सन्धियों एवं समझौते के प्रारूप तैयार किये गये और उन पर हस्ताक्षर किये गये, लेकिन इन सभी सन्धियों में जर्मनी के साथ जो वर्साय की सन्धि हुई वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। और सभी सन्धियों से अधिक प्रमुख है। चार महीने के अनवरत परिश्रम के बाद इस सन्धि का प्रारूप तैयार हो सका था। दो सौ तीस-पृष्ठों में छपी हुई यह सन्धि पन्द्रह भागों में विभक्त थी और इसमें चार-सौ चालीस धाराएँ थीं। 6 मई, 1919 को यह सम्मेलन के सम्मुख पेश हुआ और स्वीकृत हो गया। 30 अप्रैल को ही विदेश मंत्री काउन्ट फॉननर्डर्फरान्टाजु के नेतृत्व में एक जर्मन-प्रतिनिधि दल वर्साय पहुँच चुका था। प्रतिनिधियों को ट्रायनन पैलेस होटल में ठहराया गया। मित्रराज्यों के अफसर उनकी सुरक्षा की देखभाल कर रहे थे। होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया था और जर्मन प्रतिनिधियों को मना ही कर दी गई थी कि वे मित्रराज्यों के किसी भी प्रतिनिधि या किसी पत्रकार से किसी भी प्रकार का

सम्पन्न न रखें। 7 मई, 1919 को क्लिमेशो ने अन्य प्रतिनिधियों के समक्ष, ट्रायनन होटल के जर्मनी प्रतिनिधिमंडल के सम्मुख सन्धि का प्रारूप पेश किया।

जिस समय क्लिमेशो ने जर्मन विदेश मंत्री के सामने सन्धि का मसविदा प्रस्तुत किया उस समय होटल के कट्टा वातावरण को देखकर गेंकाडॉर्फरान्टाजु को चुप नहीं रहा गया। उसने विरोध करते हुये कहा कि जर्मनी यद्यपि एक पराजित देश है और सैनिक दृष्टि से वह परास्त हो चुका है, तो भी युद्ध की सारी जिम्मेवारी उस पर लादना न्यायसंगत नहीं है, पर उसके विरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जर्मनी में सन्धि के मसविदे पर काफी बहस हुई। सम्पूर्ण जर्मनी में सन्धि की शर्तों का घोर विरोध हुआ। संक्षेप में विजयी-रूप विजित राष्ट्र पर अपनी शर्तें जबरदस्ती लाद सकते थे। वर्साय की संधि निश्चय ही एक आरोपित सन्धि होने जा रही थी।

उस हालत में जर्मनी को किसी तरह संधि पर हस्ताक्षर करना ही था। जर्मन राजनीतिज्ञ ने गम्भीरता के साथ संधि के प्रारूप पर विचार किया और छब्बीस दिनों के बाद अपनी तरफ से साठ हजार शब्दों का एक विरोध प्रस्ताव प्रस्तुत किया। जर्मनी ने इस बात की शिकायत की थी कि उसने जिन शर्तों पर आत्मसमर्पण किया था इस प्रस्तावित संधि में उन सब का उल्लंघन हुआ है। उसका कहना था कि जर्मनी की सरकार पूर्णरूप से प्रजातांत्रिक है और राष्ट्रसंघ का सदस्य बनना चाहता है। निरस्त्रीकरण की शर्तें केवल जर्मनी पर ही नहीं, अपितु समस्त राज्यों पर लागू की जानी चाहिए। विश्वयुद्ध के लिये जर्मनी को एकमात्र जिम्मेवार ठहराना गलत है। जर्मन प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि संधि की सभी शर्तों को मानना असम्भव है। उनका कहना था कि संधि की शर्तें विराम-संधि की शर्तों से बिल्कुल विपरीत है। एक बड़े राष्ट्र को कुचलकर तथा उसे गुलाम बनाकर स्थायी शांति स्थापित नहीं की जा सकती।

मित्रराज्यों के नेताओं ने जर्मनी के प्रस्तावों पर विचार किया और कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन के बाद जर्मनी को पांच दिनों के भीतर ही संशोधित संधि पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। इस बार जर्मनी को यह अवसर नहीं दिया गया कि वह संधि के मसविदे के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशोधन या निवेदन प्रस्तुत कर सके। मित्रराज्यों ने स्पष्ट कर दिया था कि हस्ताक्षर नहीं करने का अर्थ जर्मनी पर पुनः आक्रमण होगा। सम्पूर्ण जर्मनी में रोष का वातावरण छा गया। शिडेमान सरकार ने संधि को अस्वीकार करके त्यागपत्र दे दिया। अन्त में एक नयी सरकार, जिसमें गुस्टावजौर प्रधान मंत्री तथा मूलर विदेश मंत्री था, ने संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। अभी तक वर्साय के राजप्रसाद के शीशमहल में जहां फ्रांस को हराने के बाद 1871 में प्रशा के राजा को जर्मन सम्राट घोषित किया गया था, शांति-समझौता सम्बन्धी कोई कार्यवाही नहीं हुई थी, पर पेरिस के नाटक का अन्तिम दृश्य इसी जगह खेला गया। 28 जून, 1919 को जर्मन प्रतिनिधिमंडल ने संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए शीशमहल में प्रवेश किया, और संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। उसके बाद अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भी संधि पर अपने हस्ताक्षर कर दिये।

1.3.2 संधि मे की गई सैनिक, आर्थिक व्यवस्थाएं व क्षतिपूर्ति

विजयी होने के कारण मित्र राज्यों के मन में इस इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि वे अपने शत्रुओं को यथासम्भव दीर्घकाल तक के लिए सैनिक दृष्टि से पंगु बना दें। जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों की सुरक्षा को भी ध्यान में रखकर उसका निरस्त्रीकरण आवश्यक था। विराम संधि के समय जर्मनी ने अपने अधिकांश जहाजी बेड़े और भारी तोपखाने मित्रराज्यों को समर्पित कर दिये थे। अब वर्साय-संधि के द्वारा उसकी सैनिक शक्ति पर स्थायी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जर्मन सेना में सैनिकों की संख्या बारह वर्ष के लिए केवल एक लाख कर दी गयी। जर्मन प्रधान सैनिक कार्यालय उठा दिया गया। अनिवार्य सैनिक सेवा को निषेध कर दिया गया। अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य युद्धोपयोगी सामग्रियों के उत्पादन को अत्यन्त सीमित कर दिया गया। उसकी नौ-सेना में केवल छः युद्ध-पोत और इतने ही गश्ती जहाज और विध्वंसक रह सकते थे। पनडुब्बी जहाज का बनाना बन्द कर दिया गया। बाल्टिक सागर पर किलेबंदी करना भी बन्द कर दिया गया और हैलीगोलैंड का किला तोड़ दिया गया। निरस्त्रीकरण के इन उपबन्धों का पालन करवाने और निरीक्षण के लिए जर्मनी के खर्च से मित्रराज्यों ने अपना एक सैनिकआयोग स्थापित किया। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सैनिक दृष्टि से जर्मनी को एकदम पंगु बना देने के लिए मित्रराज्यों ने कोई भी कसर नहीं उठा रखी। इसमें सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि यह निरस्त्रीकरण केवल एकतरफा था। जर्मनी जैसे देश के लिए इस बात का सहना असम्भव था, इसलिए उसने संधि की इस शर्त का घोर विरोध किया था, पर परास्त जर्मनी के लिए यह बुद्धिमत्ता थी कि वह आँख मीचकर वर्साय सन्धि के कड़वे घूंट को चुपचाप पी जाये।

विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार प्राचीन युग से ही माना जाता आ रहा है, लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के समय अनेक देशों में यह मत व्यक्त किया गया था कि इस बार पराजित शत्रु से क्षतिपूर्ति नहीं ली जाये। युद्ध के विशाल रूप ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया था कि इस बार क्षतिपूर्ति के दावे को पूरा करना किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर है इसलिए मित्रराज्यों ने विराम-संधि के कारण सिर्फ यह दावा किया कि स्थल, जल या आकाश से जर्मनी के आक्रमण के कारण मित्रराज्यों के नागरिकों और उसकी सम्पत्ति को जो क्षति पहुँची है, उसकी पूर्ति की जाय, लेकिन पेरिस-सम्मेलन में ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधिदलो ने यह मांग की कि जर्मनी युद्ध के सम्पूर्ण लागत की अदायगी करे।

विल्सन ने इस मांग का विरोध किया। अन्त में इस प्रश्न पर एक समझौता हो गया। यह तय हुआ कि "जर्मनी मित्रराज्यों के नागरिकों के धन-जन की जो भी हानि हुई उसकी क्षतिपूर्ति करे।" जर्मनी को सन्धि की 23 वीं धारा के अनुसार सारे नुकसान और क्षति के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। हरजाने की वास्तविक रकम क्या हो, इस प्रश्न पर भी झगड़ा हुये बिना नहीं रह सका। अन्त में यह तय हुआ कि मई, 1921 तक जर्मनी पन्द्रह अरब रुपये प्रदान कर दे और बाद में एक अरब, पचास करोड़ रुपये हर साल देता रहे। इस रकम से पहले मित्रराज्यों की उन सेनाओं का खर्च चलाया जाये जो जर्मनी में ठहरी हुई थी। शेष रकम को क्षतिपूर्ति कोष में जमा क्रिया जाये। जर्मनी से कहा गया कि वह पांच सैकड़ों के हिसाब से

बेल्जियम की उतनी सारी रकम को शीघ्र लौटा दे जितना बेल्जियम ने युद्ध-काल में मित्रराज्यों से ऋण लिया था । संधि के द्वारा एक क्षतिपूर्ति आयोग की रचना की गई । क्षतिपूर्ति को निश्चित करने का काम इसी आयोग पर छोड़ दिया गया ।

जिन क्षेत्रों पर जर्मनी का आक्रमण हुआ था उन क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी को आर्थिकसाधन लगाने को कहा गया । यद्यपि कोयले और लोहे की खानों के सभी मुख्य-मुख्य प्रदेश-सार और ऐल्सस-लोरेन जर्मनी के हाथ से ले लिये गये थे, फिर भी जर्मनी से दस वर्षों तक कोयला वसूलने की व्यवस्था की गयी । संधि के द्वारा यह तय हुआ कि जर्मनी सत्तर लाख टन कोयला प्रतिवर्ष फ्रांस को अस्सी लाख टन ब्रिटेन को और उतना ही हर वर्ष बेल्जियम को दे । इसके अतिरिक्त जर्मनी से फ्रांस को कुछ महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थ भी देने का वादा कराया गया । 187० में जर्मनी ने फ्रांस से जो झण्डा और कलात्मक वस्तुएँ इत्यादि प्राप्त की थी, उन्हें लौटाने के लिए कहा गया ।

1.3.3 जर्मनी पर संधि का प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्साय-संधि की सभी शर्तें जर्मनी के लिए अपमानजनक थी, लेकिन जर्मनी इन्हें आँख मीचकर स्वीकार करने के लिए विवश था । सन्धि के फलस्वरूप जर्मनी को यूरोप में अपने भू-भाग के लगभग अठाइस हजार वर्गमील से वंचित हो जाना पड़ा । आबादी में पैंतालीस प्रतिशत, कच्चा जस्ता बहत्तर प्रतिशत, सीसे का सत्तावन प्रतिशत, कृषि-उत्पादन का बारह से पचहत्तर प्रतिशत और तैयार किये मात्र के लगभग दस प्रतिशत भाग से उसको हाथ धोना पड़ा ।

समुद्र-पार अफ्रिका और एशिया में जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य थे। ये सभी उपनिवेश भी उसके हाथ से निकल गये । इन उपनिवेशों से जर्मनी को तरह-तरह के कच्चे माल प्राप्त होते थे । जर्मनी को इनसे भी वंचित हो जाना पड़ा । युद्ध के पूर्व जर्मनी सैनिक दृष्टिकोण से एक महान् देश था, लेकिन वर्सायसंधि के कारण जर्मनी का सैनिक महत्व भी जाता रहा । उसकी सेना की संख्या में काफी कमी कर दी गयी और तरह-तरह की सीमाएँ निर्धारित कर दी गयी । यही दशा जर्मन नौ-सेना की भी हुई, जिसका स्थान युद्ध के पूर्व संसार में द्वितीय था । जर्मनी के भू-भाग पर विदेशी सेनाएँ रखी गयी । इनका खर्च भी जर्मनी को ही देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त जर्मनी में विविध अन्तर्राष्ट्रीय आयोग स्थित थे जो जर्मनी के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक मामलों में बराबर हस्तक्षेप किया करते थे। इन सभी बातों के अतिरिक्त जर्मनी को क्षति पूर्ति करना था जिसका रकम निश्चित नहीं थी । क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चेक पर हस्ताक्षर कर दिये। वास्तव में, जर्मनी को सदा के लिए कुचल देना ही वर्सायसंधि का उद्देश्य था ।

1.3.4 वर्साय की संधि का मूल्यांकन

पेरिस का शांति-सम्मेलन अत्यन्त आशापूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुआ था, पेरिस उसका अन्त व्यापक नैराश्य में हुआ। वर्साय संधि की शर्तों का कही भी स्वागत नहीं हुआ और उससे सबको निराशा ही हुई । संधि में फ्रांस के हितों पर सर्वाधिक ध्यान रखा गया था, परन्तु जब क्लिमेंशों

ने अनुमोदन के लिए उसे फ्रांस की राष्ट्रीय सभा में प्रस्तुत किया तो उसके दोनों सदनों ने उस पर ब्रिटेन और अमेरिका के समक्ष कायरतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों के बलिदान का दोष लगाया। लायड जार्ज पर अमेरिकी शांतिवाट के सामने कठोर न्याय का बलिदान करने तथा फ्रांस को प्रसन्न करने के लिए जर्मनी पर विनाशकारी संधि लादने का दोष लगाया संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट ने तो वर्साय-संधि लादने का दोष लगाया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका की सिनेट ने तो वर्साय-संधि को नामंजूर ही नहीं किया, बल्कि विल्सन को सर्वाधिक प्रिय वस्तु राष्ट्रसंघ का सदस्य भी अमेरिका को नहीं बनने दिया। छोटे-छोटे राज्यों की भी यही स्थिति थी। वास्तव में, इसी नयी व्यवस्था में अनेक कमियां थी और संधि के जन्मदाता और हस्ताक्षकारी भी उससे अत्यन्त असंतुष्ट थे। दक्षिण अफ्रिका के प्रधान मंत्री जनरल स्मट्स ने कहा था कि "मैंने संधि पर इसलिए हस्ताक्षर किया है कि मैं युद्ध की स्थिति का अन्त देखना चाहता हूँ।" उसके मतानुसार वर्साय-सन्धि द्वारा जो व्यवस्था हुई थी वह ऐसी थी जिसमें संशोधन की आवश्यकता पड़ेगी और क्षतिपूर्ति की रकम भी इतनी भारी थी कि यूरोप के औद्योगिक पुनरुत्थान को गहरी चोट पहुँचाये बिना वे वसूली नहीं जा सकती थी। स्वयं राष्ट्रपति विल्सन ने स्वीकार किया था कि सम्मेलन के कार्य के लिए पुनरावृत्ति आवश्यक होगी। सम्मेलन में राष्ट्रसंघ पर अपना विचार व्यक्त करते हुए उसने कहा था, "यूरोप महायुद्ध की विभीषिकाओं को सहन करना श्रान्त, क्लान्त और उत्तेजित हो उठा है। अतः उसके लिए एक अच्छी संधि करना असम्भव है, परन्तु यदि राष्ट्रसंघ को वैधानिक रूप दिया जाये तो फिर यह संघ संधि की आपत्तिपूर्ण धाराओं में संशोधन करने का साधन बन सकेगा। फलस्वरूप जिस परिमाण में यूरोप की पारस्परिक घृणा कम होती जायेगी उसी परिमाण में राष्ट्रसंघ की शक्ति बढ़ती चली जायेगी जिससे कमियों का संशोधन और उपयुक्त उपचार का प्रयोग होने लगेगा। संधि अस्थायी है और राष्ट्रसंघ स्थायी। संधि रूपी छोटा सा यन्त्र अन्त में राष्ट्रसंघ रूपी बड़े यन्त्र में विलीन हो जायेगा।"

1.4 अन्य लघु सन्धियां

1.4.1 साजर्मे की सन्धि

10 सितम्बर, 1919 को ऑस्ट्रिया और मित्रराष्ट्रों के बीच पेरिस के समीप साजर्मे नामक प्राचीन प्रस्थान में एक संधि हुई जिसको साजर्मे की संधि कहते हैं। इस संधि में 381 धाराएँ थी। इसके फलस्वरूप प्राचीन ऑस्ट्रिया हंगरी का वृहत् साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े में विभक्त हो गया। युद्ध के पूर्व इस साम्राज्य में विविध जातियां निवास करती थीं और इसमें राष्ट्रीय भावनाओं का पूर्णतया विकास हो चुका था। इन जातियों को स्वतन्त्र कर दिया गया और उनका पृथक राज्य स्थापित हुआ। ऑस्ट्रिया ने हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में स्वीकार कर लिया। इन राज्यों को पुराने ऑस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य के बहुत से भू-भाग प्राप्त हुए। चेकोस्लोवाकिया को ऑस्ट्रिया के भू-भाग का निचला हिस्सा तथा मोराविया, बोहेमिया और साइलेशिया का प्रदेश प्राप्त हुआ। पोलैंड को गलेशिया, रूमानिया को बोकोविनया, यूगोस्लाविया को कारनियोला तथा डालमीटियन-तट के द्वीप प्राप्त हुए। ताइरल वाले भू-भाग

मे, लगभग ढाई लाख जर्मन निवास करते थे और इसलिए, इटली को इस भू-भाग को देना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विरुद्ध था। लेकिन, इटली इन्हीं प्रदेशों की लालच से मित्रराज्यों का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हुआ था और मित्र राज्य गुप्त संधि द्वारा इटली को इन प्रदेशों का आश्वासन भी दे चुके थे। अतः राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा करना उनकी दृष्टि में कोई बुरी चीज नहीं थी।

इस प्रकार साजर्मे की संधि के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया को क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से तीन-चौथाई हिस्से की हानि उठानी पड़ी। अब जो ऑस्ट्रिया बच गया था उस का क्षेत्रफल बहुत ही छोटा हो गया और उसकी आबादी केवल सत्तर लाख रह गयी थी। ऑस्ट्रिया की सैनिक व्यवस्था में तरह-तरह के परिवर्तन किये गये। युद्ध बंद होने के साथ-साथ उनकी सम्पूर्ण जल सेना जब्त कर ली गयी। डैन्यूब नदी का अन्तरराष्ट्रीयकरण कर दिया गया। फौज की संख्या घटाकर तीस हजार कर दी गयी। जर्मनी की तरह उस पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगा दिये गये।

संधि के अनुसार ऑस्ट्रिया को बाध्य किया गया कि वह युद्ध की जिम्मेवारी स्वीकार करे और इसके लिए जर्मनी की तरह बहुत बड़ी रकम मित्रराज्यों को हरजाना के रूप में दे। ऑस्ट्रिया को युद्ध के अपराधियों को सौंपने के लिए कहा गया और उसकी राष्ट्रीय कला की निधियां बीस-साल के लिए जब्त कर ली गयी। ऑस्ट्रिया के निवासी जर्मन जाति के थे। वे जर्मनी के साथ मिलकर एक वृहत जर्मनराज्य की स्थापना करना चाहते थे। इससे मित्रराज्यों को भय था। अतः साजर्मे की संधि की 88 वी धारा द्वारा ऑस्ट्रिया पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि वह भविष्य में ऐसा कोई प्रयत्न न करे जिससे स्वतन्त्र राज्य के रूप में उसका नामोनिशान मिट जाये।

1.4.2 त्रियानों की सन्धि

युद्ध के बाद हंगरी की राजनीतिक स्थिति इतनी डावांडोल थी कि नवम्बर, 1919 के पूर्व वहां कोई सुसंगठित सरकार ही नहीं कायम हो सकी। अतः हंगरी के साथ संधि करने में कुछ विलम्ब हो गया। अन्त में 4 जनवरी, 1920 को हंगरी के प्रतिनिधि काउन्ट अल्बर्ट एपोनी के सम्मुख एक संधि का मसविदा पेश किया गया जिसको त्रियानों की संधि कहते हैं। एपोनी ने संधि की शर्तों का कड़ा विरोध किया, लेकिन मित्रराज्यों ने उसकी एक न सुनी और 4 जून, 1920 को इस संधि पर हंगरी को हस्ताक्षर करना पड़ा।

सन्धि के अनुसार हंगरी को अपने सभी पड़ोसी राज्यों को अपने भू-भाग से कुछ न कुछ हिस्सा देना ही पड़ा। ट्रान्सिलवेनिया और उसके साथ के कुछ प्रदेश रूमानिया को दिये गये। क्रोटिया, स्लावोनिया, बोस्निया, हर्जगोविना, युगोस्लाविया को तथा स्लावाकिया का प्रदेश चेकोस्लावाकिया को मिला। ऑस्ट्रिया को हंगरी का पश्चिमी हिस्सा बीर्जनलैण्ड प्राप्त हुआ। हंगरी के समुद्री-मार्ग क्यूम के भाग्य का निर्णय इटली और युगोस्लाविया के समझौते पर छोड़ दिया गया। अन्य पराजित राज्यों की तरह हंगरी को युद्ध के लिए जिम्मेवार ठहराया गया और उसको हरजाने के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देने को विवश किया गया। हंगरी की जल सेना भंग कर दी गयी और उसकी सेना की संख्या घटाकर पैंतीस हजार कर दी गई।

त्रियानों की संधि का परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के विचार से हंगरी एक छोटा और साधारण राज्य हो गया। युद्ध के पूर्व हंगरी की आबादा दो करोड़ दस लाख थी। त्रियानों की संधि के फलस्वरूप जिस नये हंगरी का निर्माण हुआ उसके जनसंख्या केवल पचहत्तर लाख रह गयी। इसके अतिरिक्त तीस लाख के लगभग हंगेरियन लोग अब अन्य राज्यों की प्रजा बनने के लिए विवश किये गये। इस कारण हंगरी के लोगों में गहरा असन्तोष फैला। सारे हंगरी में सन्धि के विरुद्ध प्रदर्शन हुए। काउण्टएपोनी ने विरोध में अपना पदत्याग भी कर दिया। पर उसके अनुनय-विनय और विरोध का कोई फल नहीं हुआ और 4 जून, 1920 को हंगरी को सन्धि पर हस्ताक्षर करना पड़ा।

1.4.3 निऊली की सन्धि

पेरिस के पास निऊली नामक स्थान में 27 नवम्बर, 1919 को बुल्गेरिया के साथ मित्रराज्यों की सन्धि हुई, जिसको निऊली की सन्धि कहते हैं। सन्धि के अनुसार बुल्गेरिया को उन अधिकृत प्रदेशों को लौटा देना पड़ा जिनको उसने युद्ध-काल में जीता था। दोब्रदजा का प्रदेश रूमानिया को, मैसीडोनिया का अधिकांश हिस्सा युगोस्लाविया को तथा थ्रेस का प्रदेश यूनान को दिया गया बुल्गेरिया एक बहुत ही छोटा देश हो गया। युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए उस पर भी एक बहुत बड़ी रकम लाद दी गयी। उसकी सेना की संख्या घटाकर छत्तीस हजार कर दी गयी। बुल्गेरिया में भी संधि का घोर विरोध हुआ। राजधानी में सार्वजनिक शोक मनाया गया और विरोध में बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए। मित्रराज्यों पर इनका कोई असर नहीं पड़ा और बुल्गेरिया को सन्धि पर हस्ताक्षर करना पड़ा।

1.4.4 सेब्र की सन्धि

सबसे अन्तिम सन्धि तुर्की के साथ हुई जिसको सेब्र की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि को तुर्की की सरकार ने कभी नहीं माना, फिर भी विश्व राजनीति के पाठकों के लिए इसके विषय में थोड़ा जान लेना आवश्यक है। युद्ध के समय में ही मित्रराष्ट्रों के बीच में अनेक गुप्त सन्धियाँ हों चुकी थी, जिसका उद्देश्य तुर्की साम्राज्य का बंटवारा था। सेब्र की सन्धि से इस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती थी। इस सन्धि के अनुसार थ्रेस और इगविन सागर में स्थित द्वीप समूहों को यूनान को दे दिया गया। स्मर्ना का प्रदेश भी यूनान को मिला। डाडेकनीज राहोड्स और अडेलिया के प्रदेश इटली को दिये गये। मिश्र, अरब, सूडान, साइप्रस, ट्रिपालिटानिया, मोरक्को, ट्यूनिशिया, फिलिस्तानी, मेसोपोटामिया और अर्मेनिया पर से सुलतान का कब्जा उठ गया। डाईनेल्स के जलडमरूमध्य को एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के नियन्त्रण में रख दिया गया।

इस व्यवस्था से तुर्की का एक बहुत बड़ा भू-भाग उसके हाथ से निकल गया। उस पर तरह-तरह के सैनिक प्रतिबन्ध भी लगाये गये, लेकिन सेब्र की सन्धि को कार्यान्वित नहीं किया जा सका, क्योंकि मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की में इस संधि के विरुद्ध एक जबरदस्त राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसने मित्रराष्ट्रों को सेब्र की संधि बदलने के लिए मजबूर किया और 1923 में लुसान में तुर्की के साथ एक दूसरी सन्धि हुई। जिसमें सोवियत रूस के सहारे ने तथा मित्र राष्ट्रों के आपसी वैमनस्य ने तुर्की की मदद की।

1.5 पेरिस शांति-सम्मेलन का सारांश

सेब्र की सन्धि को छोड़कर महायुद्ध के बाद पेरिस में जो विविध संधियां हुईं और उनके फलस्वरूप जो राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गयी उसके परिणामस्वरूप यूरोप में अनेक नये राज्यों का निर्माण हो गया । 1919 के पहले यूरोप में केवल उन्नीस राज्य थे, लेकिन 1919 में उनकी संख्या छब्बीस हो गयी । इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों की सीमाओं में काफी परिवर्तन हुए । इसलिए कहा जाता है कि पेरिस शान्ति-सम्मेलन का वास्तविक काम 'यूरोप का बाल्कनीकरण' करना था । नये-नये राज्यों के प्रादुर्भाव से नयी-नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और यूरोप की राजनीति सुलझाने के बदले और भी उलझती गयी । 1919 की शान्ति-संधियों ने यूरोप में अनेक "खतरनाक स्थल" पैदा कर दिये गये जिसके कारण यूरोप में बारह हजार मील लम्बी नयी सीमाएँ बन गयी । इनकी सुरक्षा का एक विकट प्रश्न उपस्थित हुआ जिसके फलस्वरूप हथियारबन्दी की होड़ चल पड़ी । तीव्र आर्थिक राष्ट्रीयता ने चुंगी-सम्बन्धी रूकावटें पैदा कर दी । इसलिए कई वर्षों तक यूरोप की कठिनाइयों तथा राजनीतिक अस्थिरता का मुख्य कारण यही था ।

युद्ध के बाद इन सन्धियों के फलस्वरूप अल्पसंख्यकों की जटिल समस्या फिर खड़ी हो गयी । जिसके कारण यूरोप का राजनीतिक वातावरण बड़ा क्षुब्ध बना रहा और राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही । इन अल्पसंख्यकों की सन्धियों के संरक्षण के लिए अल्पसंख्य की व्यवस्था की गयी, लेकिन किसी देश ने इन सन्धियों के अन्तर्गत दिये गये अपने वचनों पालन नहीं किया । जिसका परिणाम यह हुआ कि ये सारी शांति-सन्धियां असफल रही । इनकी असफलता इस तथ्य में भी व्यक्त होती है कि उनकी व्यवस्थाओं को पूर्ण रूप से कभी कार्यान्वित नहीं किया गया । उनको व्यवहार में लाते समय बहुत सी छूटें दी गयीं। बहुत से उलट फेर किये गये और बहुत सी गलतियां की गयी । फलतः जिस शान्ति-व्यवस्था एवं समृद्धि को स्थापित करने के लिए इतना समय लगा और शक्ति व्यय की गयी, उनकी उपलब्धि व्यावहारिक राजनीति में कभी नहीं हो सकी ।

1.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

कार, ई. एच., 1967, इनरनेशनल रिलेशन बीटवीन दी टूवर्ड्स वार्स, 1919-1939, मैकमिलन, लंदन

भार्गेन्थ्रो हंस जे. 1961, पोलिटिक्स अमोंग नेशंस: स्ट्रगिल फॉर पाथ एंड पीस, आर्फड ए कनोफ, न्यूयॉर्क ।

पन्त, एच. जी., 1988, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध: आधुनिक विश्व 1914-1945, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।

वर्मा, दीनानाथ, 1973, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

एलेक्जेन्डर, एफ., फरोम पेरिस टू लॉकरनो

इकाई-2

सामुहिक सुरक्षा और निशस्त्रीकरण

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 जेनेवा विज्ञप्ति
- 2.3 विज्ञप्ति का मूल्यांकन
- 2.4 लोकार्नो समझौता
- 2.5 समझौते का मूल्यांकन
- 2.6 समझौते का परिणाम
- 2.7 पेरिस का समझौता
- 2.8 समझौते की व्यवस्थाएँ
- 2.9 समझौते की आलोचना
- 2.10 सामुहिक सुरक्षा प्रयासों की विफलता
- 2.11 संदर्श ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से दो महायुद्धों के बीच के काल को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। पहला वर्ग 1919 से 1924 तक था। पेरिस शांति सम्मेलन के बुलाये जाने से लेकर डेविस योजना की स्वीकृति के काल को व्यवस्था का समय कहा जा सकता है। दूसरा वर्ग 1924 से 1930 तक का था जिसे परिपूर्णता का काल कहा जा सकता है। तीसरा और अन्तिम वर्ग 1930 से 1939 तक का था जिसे अस्वीकार ने और संशोधन करने का काल कहा जा सकता है। यहां हम 1924 से 1930 के बाच की अवधि की घटनाओं की चर्चा करते हुए यह विवेचना कर रहे हैं कि किस प्रकार इन वर्षों में आशाएं जगीं, किस प्रकार विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के निकट आते हुए दिखायी दिए। यदि यह वातावरण और अधिक स्थायी होता तो विभिन्न राष्ट्रों के बीच मधुर सम्बन्धों का क्रम चल पड़ता। सन्देह पनपने के फलस्वरूप 1930 के पश्चात विश्वराजनीति संघर्ष की ओर बढ़ती गयी। इससे दूसरे वर्ग के दौरान उपजी आशाओं पर पानी फिर गया।

1924 के समाप्त होते-होते यूरोपीय और विश्वराजनीति में आशाजनक परिवर्तनों का सिलसिला आरम्भ हुआ। इस वर्ष तक शांति सन्धियों से जुड़े हुए प्रश्न सुलझा लिये गये थे। अनेक देशों की सीमाओं को लेकर उपजे विवादों का समाधान प्राप्त हो जाने से स्थायी शान्ति की आशाएं जगी थीं। इसके अलावा एक ओर पेंचीदा प्रश्न सुलझा लिया गया था। 1924 में डेविस योजना पर हस्ताक्षर हो जाने से क्षतिपूर्ति समस्या का हल ढूँढ लिया गया था। ऐसी परिस्थिति में राजनेताओं में यह विश्वास जगा कि वे स्थायी शान्ति की स्थापना की दिशा में प्रयास करें। स्थायी शान्ति का एकमात्र उपाय था-सामूहिक सुरक्षा। इसी कारण इस अनुकूल

वातावरण में सभी राष्ट्रों ने सामूहिक सुरक्षा स्थापित करने के अनेक उपाय किये । ये उपाय राष्ट्रसंघ के माध्यम से और राष्ट्रसंघ के बाहर से किये गये । इन दोनों तरीकों को लगातार अपनाने का उद्देश्य यही था कि राष्ट्रों की सुरक्षा के सवाल पर व्यापक दृष्टि से विचार हो, संदेहों को या तो समाप्त किया जाये अथवा इन्हें दूर किया जाये और सुरक्षा का वातावरण बनाने के सामूहिक प्रयास हो । 1924 के बाद के वर्षों में यूरोप में सुरक्षा का वातावरण स्थापित करने के अनेक कदम उठाये गये ।

2.1 प्रस्तावना

सामूहिक सुरक्षा के प्रयासों में पश्चिमी यूरोप के देशों ने प्रमुख भूमिका निभायी । उनके आपसी सम्बन्धों के द्वारा ही शान्ति के पक्ष में वातावरण कभी अनुकूल बना तो कभी प्रतिकूल । तीन देशों के सम्बन्धों और इनकी सरकारों तथा राजनेताओं के निर्णयों के परिणामस्वरूप ही यूरोप में सामूहिक सुरक्षा की सफलता निर्भर रही । ये देश थे ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी ॥ जब इन देशों में मित्रता उभरती दिखायी दी तो सामूहिक सुरक्षा संभव दिखायी दी । जैसे-जैसे इन तीन देशों के राजनेताओं ने एक दूसरे की नीतियों को समझा, प्रमुख राजनेताओं के बीच सदभावना और समझदारी का दौर आया और आपसी मतभेदों को मिटाने का भाव जगा उसी अनुपात में इन तीन राष्ट्रों के बीच समझौतों का मार्ग प्रशस्त हुआ । ऐसा सुयोग 1924 के उपरान्त आया । इन वर्षों को सुनहरा युग कहा गया है । इसी बदलते माहौल में, सुरक्षा को सामूहिक समझदारी से स्थापित करने के प्रयास किये गये ।

सामूहिक सुरक्षा के तीन प्रयास सफल रहें । इनमें से दो प्रयास थे जेनेवा समझौता (1924) और पेरिस समझौता (1928) । ये दोनों समझौते राष्ट्र संघ के माध्यम से किये गये । अतः राष्ट्र संघ के मंच का उपयोग करके ये दोनों समझौते किये गये । तीसरा समझौता लोकार्नो समझौता था जो राष्ट्र संघ के बाहर रहकर विभिन्न राष्ट्रों द्वारा १९२५ में किया गया । वैसे तो इस अवधि में और भी समझौते किये गये लेकिन या तो वे बीच में ही रोक दिये गये अथवा अधिक कारगर साबित नहीं हुए । अतः इन तीन समझौतों की समीक्षा करके सामूहिक सुरक्षा स्थापित करने के प्रयासों का विवरण दिया जा रहा है । चूंकि एक समझौते ने दूसरे को किसी न किसी प्रकार से प्रभावित किया इसलिए इन तीनों का विवरण तिथिक्रम के अनुसार किया जा रहा है ।

2.2 जेनेवा विज्ञप्ति

1924 में स्वीकृत यह विज्ञप्ति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम थी । इसके पक्ष में वातावरण बनने का पहला कारण यह था कि इसी वर्ष डेविस योजना के स्वीकृत हो जाने से यह प्रकट हो गया कि क्षतिपूर्ति समस्या को सुलझाने का मार्ग ढूँढ़ा गया था । जिस प्रकार इस गंभीर आर्थिक प्रश्न को सुलझाने के प्रयास सफल होते दिखायी दिये उसी प्रकार पेरिस शान्ति समझौते से जुड़े अन्य प्रश्नों को सुलझाने का रास्ता भी दिखायी दिया । दूसरी अनुकूल पारिस्थित यह हुई कि फ्रांस का नया प्रधानमंत्री एरियाँ बना जो पूर्व विदेशमंत्री से कहीं अधिक उदारवादी था और पूर्वाग्रहों से मुक्त था । इसी प्रकार ब्रिटेन में रेमसे मेकडानल्ड नया प्रधानमंत्री बना । वह भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बढ़ते तनाव को कम करने में भूमिका

निभाने को तैयार था। तीसरी अनुकूल परिस्थिति यह थी कि क्षेत्रीय सुरक्षा उपायों के स्थान पर व्यापक स्तर पर सुरक्षा का मार्ग तलाश करने का भाव इस समय जगा। इसी कारण प्रमुख देशों में यह विचार पनपा कि राष्ट्र संघ को प्रभावी बनाया जाये और अमेरिका, रूस तथा जर्मनी के राष्ट्र संघ के सदस्य न होने के कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसा कमजोर दिखायी दिया था उस स्थिति से उसे ऊपर उठाना। दूसरे शब्दों में राष्ट्र संघ के माध्यम से सुरक्षा स्थापित करने का मार्ग तलाशने को अनेक प्रमुख राष्ट्र तैयार हो गये।

अक्टूबर 1924 में राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने एकमत से जेनेवा विज्ञप्ति को स्वीकार किया और विभिन्न सरकारों से आग्रह किया कि वे इसकी शर्तों को अपनी अनुमति प्रदान करते हुए हस्ताक्षर करें। इस विज्ञप्ति का संपूर्ण शीर्षक था: "अंत विवादों के शान्तिपूर्ण समाप्तों की विज्ञप्ति।"

इस जेनेवा विज्ञप्ति के द्वारा मुख्य प्रयास यह किया गया कि राष्ट्र संघ के संविधान को सुधारा जाये। यह प्रावधान किया गया कि अनिवार्य रूप से राष्ट्र संघ की मध्यस्थता के निर्णय को ऐसी सभी राष्ट्र स्वीकारें जो विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर करें। राष्ट्र संघ के संविधान में दो कमियां थी। पहली यह थी ऐसी कि स्थिति में युद्ध की आशंका उत्पन्न हो सकती थी जब राष्ट्र संघ की कौंसिल किसी विवाद को सुलझाने में एकमत से निर्णय न दे सके। दूसरी समस्या यह थी कि राष्ट्र संघ स्थिति में कोई निर्णय नहीं दे सकता था जब कोई विषय ऐसा हो जो विवादग्रस्त राष्ट्रों में से किसी एक के घरेलू अधिकार क्षेत्र में आता हो। जेनेवा विज्ञप्ति द्वारा इन दोनों कमियों को दूर करने की व्यवस्था की गयी। इसमें यह संस्तुति की गयी कि विभिन्न देशों के बीच सभी वैधानिक झगड़ों का निर्णय अनिवार्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय द्वारा किया जाये। इसके अलावा अन्य प्रकार के राजनीतिक विवादों का निर्णय राष्ट्र संघ की परिषद अथवा विशेष मध्यस्थता समितियों द्वारा किया जाये। यह भी निश्चय किया गया जिस समय विवाद न्यायालय अथवा परिषद द्वारा विचाराधीन हो उस समय कोई सैनिक तैयारी न हो। जेनेवा विज्ञप्ति में यह प्रावधान भी किया गया कि राष्ट्र संघ उन विषयों पर भी विचार कर सकती थी जो किसी देश के घरेलू अधिकार क्षेत्र में आते हों। यह प्रावधान किया गया कि यह विज्ञप्ति उसी समय लागू मानी जा सकती थी जब परिषद के स्थायी सदस्यों का बहुमत और राष्ट्र संघ के दस अन्य सदस्य इसे स्वीकार कर लें। यह एक महत्वपूर्ण शर्त थी और इसके पूरा होने अथवा न होने पर ही जेनेवा विज्ञप्ति की सफलता या असफलता निर्भर थी।

जेनेवा विज्ञप्ति की घोषणा के प्रति केवल कुछ राष्ट्रों में उत्साह दिखायी दिया। लेकिन अनेक अन्य देशों का उत्साह कुछ समय बाद ही ठंडा पड़ने लगा। जब उन्होंने अपने-अपने हितों की दृष्टि से देखा तो उन्हें इस विज्ञप्ति के द्वारा राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप होने से समस्याएं दिखायी दीं।

2.3 विज्ञप्ति का मूल्यांकन

ब्रिटेन का निर्णय जेनेवा विज्ञप्ति के भविष्य के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। मुख्य समस्या जापान के प्रयासों से उठी। ब्रिटेन के अनेक उपनिवेशों ने जापानियों को अपने देश में आने और बसने पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये थे। कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड ने

ऐसे कानूनों की घोषणा कर रखी थी। जेनेवा विज्ञप्ति की व्यवस्थाओं के द्वारा ऐसे कानूनों को चुनौती दी जा सकती थी। ब्रिटिश उपनिवेश यह मानने को राजी नहीं थे कि उनके देशों में किसी के आने और बसने के नियमों को चुनौती राष्ट्र संघ में दी जा सके। ये राष्ट्र विज्ञप्ति के इस प्रमुख अंश को मानने को जब राजी न हुए तो ब्रिटेन को भी अपनी स्थिति पर विचार करना पड़ा। इस आपत्ति के अलावा ब्रिटेन में एक और विचार को लेकर भी विरोध के स्वर उठे। इस विज्ञप्ति में अपनाये गये मध्यस्था के सिद्धांत को मानने के प्रति भी इस देश में विरोध हुआ। ब्रिटिश संसद इस प्रावधान के पक्ष में न थी। एक अन्य कारण यह भी हुआ कि ब्रिटेन में राजनीतिक परिवर्तन हुए और नया मंत्रिमंडल बना। इससे भी जेनेवा विज्ञप्ति का भविष्य-अधर में लटक गया। मार्च 1925 में ब्रिटेन ने जेनेवा विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर न करने की औपचारिक घोषणा कर दी।

ब्रिटेन की अस्वीकृति का अर्थ हुआ जेनेवा विज्ञप्ति का अन्त। यह विज्ञप्ति केवल कागजों पर ही बनी रह गयी। इसे स्वीकार किये जाने की शर्तें जब पूरी न हो सकी तो यह विज्ञप्ति भी कभी लागू न की जा सकी।

जेनेवा विज्ञप्ति कारगर साबित न हो सकी। फिर भी ये प्रयास निरर्थक नहीं गये। शीघ्र ही सम्बद्ध पक्षों में फिर विचार करने का सिलसिला शुरू हुआ। उन्होंने इस असफलता पर काबू पाकर एक अन्य समझौता करने का निर्णय कर लिया।

2.4 लोकार्नो समझौता

जब राष्ट्र संघ के अधीन व्यापक समझौता असफल हो गया तो प्रमुख यूरोपीय देशों की नीतियों में परिवर्तन आया। सभी राष्ट्रों द्वारा स्वीकार्य प्रणाली के स्थान पर उन्होंने क्षेत्रीय व्यवस्था करना अधिक उपयोगी और कारगर माना। यही नीति लोकार्नो समझौते का आधार बनी।

इस समझौते के पूर्व तीन प्रमुख पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों के बीच व्यापक विचार विमर्श हुआ। इन देशों की सरकारों ने जहां अपनी नीतियों पर फिर से विचार करने की सूझबूझ दिखायी वहीं इन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण भी अपनाया। ये तीन देश थे ब्रिटेन, फ्रांस, और जर्मनी। इन देशों की सरकारों ने उच्च स्तरीय वार्ता करके एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझा। एक सवाल यह था कि किस प्रकार जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला किया जाय। दूसरा सवाल यह था कि ऐसा समझौता न हो जो किसी प्रकार का गुट दिखायी दे। प्रथम महायुद्ध के पूर्व के अनुभव से लाभ उठाकर अब समझौता करते समय अधिक राष्ट्रों को शामिल किया गया। ऐसे प्रयासों का उद्देश्य यूरोप में विरोधी गुट के निर्माण को रोकना था।

सामूहिक सुरक्षा स्थापित करने की दिशा में एक प्रमुख वाघा थी फ्रांस और जर्मनी के बीच राइन क्षेत्र की सीमा। फ्रांस को लगातार आशंका थी कि वर्साई की संधि द्वारा निर्धारित इस सीमा का उल्लंघन मौका पाते ही जर्मनी द्वारा किया जायेगा। फ्रांस ने लगातार यह चाहा था कि उसे गारंटी दी जाये कि ऐसा नहीं होगा। यह गारंटी केवल ब्रिटेन ही दे सकता था क्योंकि जहां वह निकटवर्ती देश होने के कारण तुरन्त हस्तक्षेप कर सकता था वही उसके पास पर्याप्त शक्ति भी थी। अतः फ्रांस की राइन सीमा की सुरक्षा से सामूहिक सुरक्षा की स्थापना

संभव दिखायी दी और इस प्रश्न के सुलझ जाने से लोकार्नो समझौते की सफलता के द्वार खुल गये ।

यह गुत्थी तभी सुलझ सकती थी जब ब्रिटेन की सरकार ऐसे क्षेत्रिय समझौते के लिये राजी हो जाय और फ्रांस को इस आश्वासन पर विश्वास हो जाये । 1925 में सामूहिक सुरक्षा की भावना को सशक्त बनाने के उद्देश्य से ब्रिटेन गारंटी देने को तैयार हो गया । इससे समझौते का मार्ग प्रशस्त हो गया ।

फ्रांस के आश्वस्त हो जाने के पश्चात जर्मनी को भी राजी करना जरूरी था । जर्मनी ने भी कुछ शर्तें रखी । उसने मांग की कि बिना किसी देरी किये उसे राष्ट्र संघ का सदस्य बना दिया जाये । अनेक देशों के साथ बराबरी का स्थान पाने के लिए उसे यह जरूरी जान पड़ा । जर्मनी ने शुरू से राइन की ओर की पश्चिमी सीमा ओर पूर्व की ओर की सीमा को अलग-अलग नजरों से देखा । जहां वह पश्चिम की सीमा को स्वीकारने को तैयार था वही पूर्वीय सीमा के स्थायित्व की गारंटी देने को वह तैयार न था । लोकार्नो समझौते के पहले ही जर्मनी की ये दोनों शर्तें मान ली गयी थी । इस प्रकार इन तीन प्रमुख देशों की सरकारों के बीच हुई कुटनीतिक वार्ता से ऐसा आधार तैयार कर लिया गया जिससे लोकार्नो समझौता के समय कोई बाधा बाकी नहीं रह गयी ।

अक्टूबर 1925 में सात यूरोपीय देशों के प्रतिनिधि स्विट्जरलैंड के रमणिक नगर लोकार्नो में सम्मेलन के लिए एकत्रित हुए । प्रथम महायुद्ध के उपरांत पहली बार सभी के प्रतिनिधियों ने वार्ताएं की । जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन के अलावा चार अन्य देशों के प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में भाग लिया । ये थे इटली, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और बेल्जियम । बारह दिनों तक वार्ता का क्रम चलता रहा । लोकार्नो समझौते का सबसे उल्लेखनीय पक्ष यह था कि पहले के तनावों और कटुता को भुला कर सभी प्रतिनिधियों ने स्नेह और सौहार्दपूर्ण तरीके से अपने-अपने पक्ष को प्रस्तुत किया और दूसरों के पक्ष को सुना ।

लोकार्नो में सात सन्धियों पर हस्ताक्षर हुए । इन सन्धियों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है । पहली सन्धि सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी । यही सन्धि वास्तविक लोकार्नो सन्धि थी । इसके द्वारा सभी देशों के प्रतिनिधियों ने यह गारंटी दी कि वर्साई की सन्धि द्वारा निर्धारित जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम के बीच की सीमाओं को सुरक्षित बनाए रखने के सभी उपाय किये जायेंगे । राइन प्रदेश के असैन्यिकरण का वचन भी इसी समय दिया गया । इसे पारस्परिक गारंटी सन्धि कहा गया । दूसरे वर्ग में चार सन्धियाँ फ्रांस, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया ने एक दूसरे के साथ की । इन चार सन्धियों का उद्देश्य यह था कि यदि इन राष्ट्रों के बीच कोई झगड़े की स्थिति आये तो इसका फैसला पंचायती तरीके से किया जाये । इन सन्धियों को मध्यस्थता संधियां कहा गया ।

छठी सन्धि फ्रांस और पोलैंड के बीच तथा सातवीं सन्धि फ्रांस और चेकोस्लोवाकिया के बीच की गयी । ये पारस्परिक सहायता सन्धियां थी और इनके द्वारा इन देशों ने वायदा किया कि जर्मनी द्वारा आक्रमण किये जाने की स्थिति में वे पारम्परिक सहायता करेंगे ।

2.5 समझौते का मूल्यांकन

लोकार्नो समझौते की व्यवस्था के विवरण के पश्चात इसके मूल्यांकन पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है यह विचार करना आवश्यक है कि इस समझौते के तत्कालीन और दूरगामी परिणाम क्या हुए? यह भी देखना होगा कि क्या इस समझौते में केवल गुण ही विद्यमान थे ? वास्तविकता यही है कि यदि इसमें गुण थे तो इसमें दोष भी थे । विशेष करके यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालीन प्रश्नों का समाधान तो निकाला जा सका लेकिन निर्णय करने वाले राष्ट्रों ने दूरगामी प्रभावों की उपेक्षा कर दी ।

लोकार्नो समझौते का पहला उल्लेखनीय पहलू यह था कि वर्साई सन्धि के पश्चात् यह पहली कूटनीतिक सफलता थी । इसने यह प्रमाणित कर दिया कि अनेक अन्तर्विरोधों के बावजूद राष्ट्रों के मतभेदों के बीच समाधान निकाला जा सकता था । जिस सौहार्द की भावना लोकार्नो में दिखायी दी वह एक नये युग का द्योतक थी । आशाजनक भविष्य की संभावनाएं इस समय से दिखायी देने लगी ।

इस समझौते की दूसरी विशेषता थी जर्मनी की पुर्नप्रतिष्ठा । जर्मनी को राष्ट्रों के परिवार में शामिल किया गया । इसे बराबरी का पद देकर सभी राष्ट्रों ने इसके साथ सम्मानपूर्वक वार्ता की । जर्मनी को बिना किसी शर्त के राष्ट्र संघ में शामिल कर लिया गया । इससे भी इसी भावना की पुष्टि हुई कि वर्साई के समय के व्यवहार को पूरी तरह से बदल कर जर्मनी को उचित स्थान देना आवश्यक था । जर्मनी के प्रति पहले अपनायी गयी प्रतिशोधात्मक नीति का अन्त लोकार्नो समझौते की एक उल्लेखनीय उपलब्धि थी ।

लोकार्नो समझौते का मूल्यांकन करते समय इस तीसरे तथ्य का उल्लेख करना होगा कि यहां से ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के बीच मधुर सम्बन्धों का आरम्भ हुआ । यूरोपीय और विश्व शान्ति के लिये यह शुभ संकेत था । वर्साई की सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के पश्चात यह पहला अवसर था जब फ्रांस और जर्मनी की सुरक्षा आवश्यकताओं के बीच एक उचित संतुलन स्थापित हुआ । फ्रांस लगातार सुरक्षा की खोज कर रहा था और चाहता था कि यथास्थिति बनी रहे । यथास्थिति से फ्रांस का अभिप्राय था वर्साई व्यवस्था को जैसा का तैसा बनाए रखना । इसके विपरीत जर्मनी वर्साई की सन्धि में परिवर्तन चाहता था । इन विरोधी विचारों के बीच संतुलन लाने का उत्तरदायित्व ब्रिटेन ने निभाया । जर्मनी और फ्रांस के साथ उसने गहरे सम्बन्ध स्थापित कर लिये । ये दोनों राष्ट्र यह मानने लगे कि उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति ब्रिटेन के सहयोग से ही पूरी हो सकती थी । अतः लोकार्नो समझौते ने जहां एक ओर इन तीन प्रमुख पश्चिमी राष्ट्रों को एक दूसरे के निकट लाने का मार्ग प्रशस्त किया वहीं इसने ब्रिटेन को निर्णायक भूमिका अदा करने का अवसर भी दिया ।

इसकी चौथी महत्वपूर्ण व्यवस्था के द्वारा राष्ट्रों के बीच एक नयी कूटनीतिक व्यवस्था का आरम्भ हुआ । एक ऐसे युग की शुरुआत हुई जिसमें पहले की कटुता को भुलाकर शान्ति की खोज की संभावनाएं प्रबल हुई । यदि यह स्मरण किया जाये कि 1019 में और इसके बाद के वर्षों में बदले की भावना झलकती रही थी, लोकार्नो वातावरण का महत्व स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुधार के लक्षण स्पष्टतः दिखायी देने लगे ।

लोकार्नो समझौते से निरस्त्रीकरण की सम्भावनाएं प्रबल होना इसका पांचवां उल्लेखनीय पहलु था। फ्रांस और अनेक अन्य यूरोपीय राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा हो जाने पर ही निरस्त्रीकरण की दिशा की ओर बढ़ने को तैयार थे । जब लोकार्नो समझौते से यह आशावादी वातावरण बन गया, सामूहिक सुरक्षा की संभावनाएं बड़ी तो फिर इसके फलस्वरूप निरस्त्रीकरण के लिए फ्रांस के अनुकूल रूख से राष्ट्र संघ के माध्यम से इस महत्वपूर्ण उद्देश्य की प्राप्ति संभावित दिखायी दी।

2.6 परिणाम

लोकार्नो समझौते ने एक आशाजनक वातावरण तैयार किया, संभावनाओं के द्वार खुले और यह विश्वास जगा कि यूरोप नये भविष्य की ओर पदार्पण कर रहा था । यह समझौता किसी प्रकार से जर्मनी पर लादा नहीं गया था अपितु उसी की इच्छाओं के अनुकूल था । जर्मनी ऐसे ही समझौते की कामना कर रहा था जिसके द्वारा उसे अन्य राष्ट्रों के साथ बराबरी की बातचीत करने का हक मिले, राष्ट्र संघ में प्रवेश मिले तथा ब्रिटेन से गारंटी मिले । यह सब इस समझौते से उसे मिल गया ।

तो फिर क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोकार्नो समझौते के द्वारा सामूहिक सुरक्षा स्थापित हो गयी ? क्या दूरगामी उद्देश्यों की दृष्टि से इसे सफल माना जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक ही है। चाहे 1925 में आशाओं का संचार अवश्य हुआ लेकिन इसके दूरगामी परिणाम प्राप्त नहीं हो सके । कहा तो यह भी जा सकता है कि इस समय दूरगामी उद्देश्यों की उपेक्षा कर दी गयी । जर्मनी की पूर्वी सीमा और उसकी पश्चिमी सीमा के बारे में अलग-अलग मापदंड अपनाया भविष्य की दृष्टि से खतरनाक साबित हुआ । समझौते में केवल यही कहा गया कि वर्साई की सन्धि द्वारा निर्धारित जर्मनी की पश्चिम की ओर से सीमा में कोई फेरबदल न होगा । इसे जैसा का तैसा बनाए रखने की गारंटी ब्रिटेन ने दी । लेकिन जर्मनी की जो सीमा पूर्व की ओर थी उसके बारे में लोकार्नो समझौते में कुछ भी नहीं कहा गया । जर्मनी की पूर्वी सीमा के बारे में इस समझौते में कुछ भी नहीं गया । जर्मनी की केवल पश्चिम की ओर की सीमा के बारे में ब्रिटेन ने गारंटी दी । इसके अनेक अर्थ बाद में लगाए गये । एक तो यह विचार धीरे-धीरे पनपा कि ब्रिटेन को जर्मनी की पूर्वी सीमा में यथास्थिति बनाए रखने में रुचि नहीं थी । यह सीमा पोलैंड से मिलती थी । इस कारण पोलैंड में असुरक्षा की भावना बढ़ी । इसके अलावा आगे चलकर जर्मनी में यह विचार पनपा कि वह चाहे तो पोलैंड की ओर की सीमा का अतिक्रमण कर सकता है और द्वितीय महायुद्ध के पूर्व उसने ऐसा किया भी । किसी भी देश की सीमाओं को प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी मानने के परिणाम भयंकर ही हुआ । समझौता करने की जल्दी में भावी परिणामों की उपेक्षा कर दी गयी।

2.7 पेरिस समझौता (कैलांग-ब्रिंया समझौता)

यह सर्वथा उचित ही कहा गया है कि यह समझौता अमेरिकी इच्छा और फ्रांस की सदभावनापूर्ण प्रतिक्रिया के फलस्वरूप संभव हुआ । आरम्भ में अन्त तक इन्ही दो राष्ट्रों ने समझौते का प्रारूप तय किया, अन्य राष्ट्रों से सम्पर्क किया और लगातार प्रयास करके बड़ी संख्या में राष्ट्रों का अनुमोदन इसके पक्ष में प्राप्त किया ।

फ्रांस द्वारा सामूहिक सुरक्षा की खोज लोकार्नो समझौते से समाप्त नहीं हुई। फ्रांस केवल एक समझौते पर निर्भर रहने को तैयार नहीं था। सुरक्षा की तलाश करना उसकी विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य बना रहा। फ्रांस द्वारा इस नीति के लगातार पालन करने का एक प्रमुख कारण और भी था। जब भी फ्रांस से निरस्त्रीकरण के उपाय करने को कहा जाता था फ्रांस सुरक्षा के प्रश्न को उठा देता था। फ्रांस का तर्क यह था कि निरस्त्रीकरण की ओर कदम तभी उठाए जा सकते हैं जब सामूहिक सुरक्षा स्थापित हो जाये। इस प्रकार निरस्त्रीकरण के उपाय करने के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि सामूहिक सुरक्षा के उपायों को और भी प्रभावी बनाया जाये।

अमेरिका के विदेशमंत्री कैलांग और फ्रांस के विदेशमंत्री ब्रिआं के सम्मिलित प्रयास 1927 से आरम्भ होकर 1928 में सफल हुआ। अप्रैल 1927 में फ्रांसीसी मंत्री ब्रिआं ने एक प्रेस वक्तव्य देकर सुझाव दिया कि प्रथम महायुद्ध में अमेरिका के शामिल होने का दशक पूरा होने की याद में दोनों राष्ट्रों के बीच युद्ध को गैरकानूनी घोषित करने का एक समझौता किया जाय। फ्रांस द्वारा जैसी सुरक्षा की खोज की जा रही थी उसी के अनुरूप यह सुझाव था। अमेरिका में फ्रांसीसी प्रस्ताव का स्वागत हुआ। इससे उत्साहित होकर फ्रांसीसी विदेश मंत्री ने जून 1927 में अमेरिका से एक सन्धि करने का प्रस्ताव किया। ऐसा प्रस्ताव करके फ्रांस ने अमेरिका की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। अमेरिका विदेशमंत्री ने युद्ध की संभावना पर अंकुश लगाने का प्रस्ताव मानते हुए इस प्रस्ताव में एक बड़ा संशोधन किया। अमेरिका ने कहा कि प्रस्तावित समझौता या सन्धि केवल दो राष्ट्रों के बीच न होकर व्यापक हो और अधिक से अधिक देशों से इस समझौता को स्वीकारने को कहा जाये। अमेरिका के इस सुझाव के फलस्वरूप ही दोनों देशों के बीच होने वाली वार्ता में अन्य प्रमुख यूरोपीय राष्ट्रों को शामिल किया गया।

जो बातचीत इस समय तक फ्रांस और अमेरिका के बीच सीमित थी उसे व्यापक बनाने के निर्णय के साथ ही अन्य देशों के साथ सम्पर्क करने का सिलसिला शुरू हुआ। जून 1928 को राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध के परित्याग की घोषणा करने वाली एक सामान्य सन्धि का प्रारूप केलाग ने जर्मनी, ब्रिटेन, इटली और जापान आदि शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ-साथ चौदह राष्ट्रों को भेजा। इस प्रारूप पर विचार करने के लिए अमेरिका तथा इन सभी देशों के प्रतिनिधि अगस्त 1928 में पेरिस में एकत्रित हुए। इन राष्ट्रों ने मिलकर एक समझौते को स्वीकार किया जो पेरिस समझौता या केलाग-विआ समझौता कहलाता है। पेरिस में निमंत्रित देशों ने तो इस पर हस्ताक्षर किये ही पर उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पेरिस समझौते को स्वीकार करने वाले देशों की संख्या लगातार बढ़ती गयी। 1933 तक विश्व के पैंसठ देशों ने इसे स्वीकार कर लिया। यह संख्या राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या से भी अधिक थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि विश्व के सभी प्रमुख राष्ट्रों ने इस समझौते को स्वीकारा।

2.8 समझौते की व्यवस्थायें

पेरिस समझौते की व्यवस्थाएं सुस्पष्ट थी इसका शीर्षक था: "युद्ध के परित्याग की सामान्य सन्धि" इस शीर्षक के द्वारा यह प्रकट हो जाता है कि इस समझौते का वास्तविक लक्ष्य था विश्व में उठने वाले युद्ध के खतरों को रोकना। इसकी तीन प्रमुख व्यवस्थाएं थी।

पहली व्यवस्था में यह कहा गया कि हस्ताक्षरकर्ता देश गंभीरतापूर्वक अपने-अपने देशों के नाम से यह घोषित करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान हेतु युद्ध का सहारा लेने की निन्दा करते हैं और एक दूसरे के साथ सम्बन्धों में राष्ट्रीय नीति के एक साधन के रूप में इसका परित्याग करते हैं। दूसरी व्यवस्था के अनुसार हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि भविष्य में सभी विवादों का समाधान केवल शान्तिपूर्ण उपायों से किया जायेगा। यह भी आश्वासन दिया गया कि किसी भी अन्य उपाय का सहारा नहीं लिया जायेगा। तीसरी व्यवस्था के अनुसार सभी राष्ट्रों के हस्ताक्षरयुक्त दस्तावेज वाशिंगटन में जमा कर दिये गये और यह निश्चय किया गया कि यह समझौता उस समय तक लागू रहेगा जब तक इसे चलाने के पक्ष में विश्व के राष्ट्र हों।

2.9 समझौते की आलोचना

पेरिस समझौता एक नैतिक घोषणा थी। इसके द्वारा बड़ी संख्या में विश्व के राष्ट्रों ने स्वीकारा कि युद्ध करने की भावना को उकसाना एक पाप था। लेकिन इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि इस समय केवल घोषणा ही की गयी। किसी प्रकार का उतरदायित्व निभाने का आश्वासन किसी देश की ओर से नहीं दिया गया था। इस प्रकार केवल शान्तिपूर्ण उपाय अपनाने के इरादों से युद्ध की दानवी प्रवृत्ति पर काबू पाना पर्याप्त कठिन ही नहीं असंभव भी दिखायी दिया।

दूसरा उल्लेखनीय पहलू यह था कि समझौते का स्वरूप पर्याप्त सीमित था। इसके द्वारा युद्ध की भर्त्सना की गयी और इसका परित्याग करने का आश्वासन दिया गया। परन्तु इस समय भी युद्ध को गैरकानूनी घोषित नहीं किया गया। शक्ति के प्रयोग को किसी भी स्थिति में रोकने की दिशा में किये गये प्रयास इस समय भी अधूरे ही रहे।

इस समझौते पर हस्ताक्षर सशर्त किये गये। इसके प्रावधानों को स्वीकारते हुए अनेक प्रमुख देशों ने अपनी-अपनी शर्तें रखी। दूसरे शब्दों में पूर्ण रूप से शान्ति का मार्ग का भरोसा दिलाने के बजाय वे उन स्थितियों का पहले ही उल्लेख कर रहे थे जिनमें उन्हें युद्ध करना पड़ सकता था। इससे यही जाहिर होता है कि बड़े राष्ट्रों का सहयोग शुरू से ही आंशिक और शर्तों के साथ मिला। बड़े राष्ट्रों के दृष्टिकोण के कारण पेरिस समझौते के कारगर होने की आशंका बढी। समझौते के मूल प्रस्तावकों का कहना था कि आत्मरक्षा में वे युद्ध करने के अधिकार का परित्याग नहीं कर रहे हैं। ब्रिटेन ने आत्मरक्षा के समय बचाव करने के अधिकार पर जोर देते हुए यह शर्त भी रखी कि उसे विश्व के कुछ क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने का विशेष दायित्व था जिसे ध्यान में रखते हुए ही वह समझौते की शर्तों का पालन करेगा। अमेरिका का कहना था वह मुनरो सिद्धान्त का पालन करते हुए आत्मसुरक्षा करेगा और इस शर्त पर ही पेरिस समझौते का पालन करेगा। इन दो उदाहरणों से प्रकट होता है कि युद्ध का परित्याग करते समय अनेक प्रमुख राष्ट्रों ने सुरक्षात्मक उपाय करने के अधिकार को नहीं छोड़ा।

पेरिस समझौते की एक बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें युद्ध की समाप्ति के ठोस उपाय नहीं किये गये। इसने कुछ परिस्थितियों में युद्ध की आवश्यकता को माना। इसने आत्मरक्षा में युद्ध करने की अनुमति दे दी। इसी प्रकार राष्ट्र संघ के अधीन सामूहिक सुरक्षा लाने,

हस्ताक्षर करने वाले और हस्ताक्षर न करने वालों के बीच में और उपनिवेशों की रक्षा करने की स्थिति में शक्तिशाली राष्ट्रों को युद्ध करने की अनुमति दे दी गयी ।

पेरिस समझौते ने राष्ट्र संघ के संविधान के महत्व पर भी प्रश्न चिन्ह लगा दिये । लेकिन दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर थे । पेरिस समझौते में आशाएं जगयीं गयी थी । इसके विपरीत राष्ट्र संघ का संविधान एक राजनीति सन्धि का भाग था । पेरिस समझौते ने युद्धों की निन्दा अवश्य की । लेकिन किसी को सजा नहीं दी । राष्ट्र संघ के संविधान ने कुछ युद्धों को रोका, कुछ की आज्ञा दी लेकिन शेष युद्धों को पूरी तरह से रोका । इन परिस्थितियों में यही कहा जा सकता है कि पेरिस समझौता आशा का संचार कर सका । आशा को प्रभावी न बना सका । भविष्य में शान्ति के खतरे सामने आने के समय इस समझौते की कमजोरी दिखायी दी।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से एक शुभ संकेत यह दिखायी दिया कि अमेरिका ने विश्व राजनीति में पुनः दिलचस्पी लेना आरम्भ कर दिया था । प्रथम महायुद्ध के पश्चात अमेरिका की वैदेशिक नीति अलगाववाद से प्रेरित थी। लगभग एक दशक बाद पेरिस की सन्धि कराने में उसने सक्रियता से कार्य किया था । इससे यह आशा बंधी थी कि अमेरिका पुनः प्रभावी भूमिका की ओर अग्रसर हो रहा था ।

2.10 सामूहिक सुरक्षा प्रयासों की विफलता

1920 के दशक में राष्ट्र संघ के माध्यम से तथा राष्ट्र संघ के बाहर जो तीन समझौते किये गये वे उस आशाजनक वातावरण की उपज थे जिनमें विश्वव्यापी स्तर पर सामूहिक सुरक्षा बनाए रखने के प्रति सभी देश प्रतिबद्ध थे, सभी राष्ट्र सभा-सम्मेलनों के माध्यम से शान्ति की स्थापना और युद्ध को दूर करने का भाव रखते थे और इस दशक में राष्ट्र संघ के प्रभावी होने से भी विश्वव्यापी स्तर पर सदभाव बना रहा । लेकिन इस दशक के समाप्त होते ही अशुभ संकेत दिखायी देने लगे और ऐसे अनेक प्रमाण मिलने कि सामूहिक सुरक्षा के लिये किये गये प्रयास न तो कारगर थे और न चुनौतियों का मुकाबला करने की क्षमता सामूहिक सुरक्षा के समर्थकों में थी । परिणामतः 1930 का दशक जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया उसी अनुपात में सामूहिक सुरक्षा के प्रयास छिन्न-भिन्न होते दिखायी दिये । स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ ? सामूहिक सुरक्षा स्थापित करने के प्रयास क्यों असफल रहे ?

सामूहिक सुरक्षा प्रयासों की असफलता का पहला कारण यह था कि न तो शक्तिशाली राष्ट्रों ने कोई कारगर मंच बनाया था और न ही सामूहिक कार्यवाही करने की कोई स्पष्ट योजना ही पहले से स्वीकार की गयी । उनके प्रयास सैद्धांतिक और औपचारिक थे । उनके द्वारा किये गये समझौते शान्ति भंग होने की स्थिति में कारगर न हो सके ।

सामूहिक सुरक्षा की विफलता का दूसरा कारण था 1930 के उपरांत राष्ट्र संघ की कमजोरी प्रकट होना । जब राष्ट्र संघ जापान और इटली द्वारा किये गये आक्रमणों के समय कुछ भी न कर सका तो कमजोर राष्ट्रों में डर समा गया । राष्ट्र संघ की कमजोरी से सामूहिक सुरक्षा के प्रयासों को धक्का लगा ।

तीसरा कारण था जर्मनी और फ्रांस के बीच सम्बन्धों में स्थिति परिवर्तन । 1930 के उपरांत फ्रांस द्वारा जर्मन-विरोधी नीति अपनाने से हिटलर का उदय हुआ । धीरे-धीरे हिटलर की

उद्वंडता बढ़ती गयी । इसके फलस्वरूप यथास्थिति को बनाए रखने के फ्रांस के प्रयास कमजोर होते गये । कुछ वर्षों बाद गुटबन्दियों द्वारा अथवा समझौतों द्वारा किये गये फ्रांस के प्रयास निष्फल दिखायी देने लगे ।

सामूहिक सुरक्षा बहुत कुछ निःशस्त्रीकरण पर निर्भर थी, जैसे-जैसे हिटलर द्वारा शस्त्रीकरण की प्रक्रिया शुरू की गयी इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा । जो देश हिटलर के मित्र थे उन्होंने उसका अनुकरण किया । जो देश हिटलर से डरे उन्हें भी शस्त्र निर्माण के बारे में सोचना पड़ा । शस्त्रों के निर्माण की प्रतिद्वन्द्विता से शक्ति पर आधारित कूटनीति का दौर चल पड़ा और शान्ति पर आधारित कूटनीतिक वार्ता का क्रम समाप्त हो गया । इस विषाक्त और सन्देह के वातावरण में सामूहिक सुरक्षा की भावना धीरे-धीरे लुप्त होती गयी ।

2.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भार्गेन्थो हंस, जे-पोलिटिक्स अमंग दी नेशन्स: स्ट्रगल फोर पाथ एण्ड पीस
2. एच जी. पन्त-अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, आधुनिक विश्व (1914-1945)
3. एलेक्जेंडर, एफ-फ्रोम पेरिस टू लोकार्नो
4. कार, ई. एच-इण्टरनेशनल रिलेशन बिटविन दी टू वर्ल्ड वार्स, 1919-1939

इकाई-3

फ्रांस द्वारा सुरक्षा की खोज

इकाई संरचना

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 भौगोलिक सुरक्षा की मांग
- 3.3 राष्ट्र संघ के बाहर प्रयास
 - 3.3.1 बेल्जियम से संधि
 - 3.3.2 पौलेण्ड के साथ संधि
 - 3.3.3 ब्रिटेन से संधि का पुनः असफल प्रयास
- 3.4 फ्रांस द्वारा लघु राष्ट्रों से समझौता
 - 3.4.1 फ्रांस-चेकोस्लोवाक समझौता
 - 3.4.2 फ्रांस-रूमानिया समझौता
 - 3.4.3 फ्रांस-युगोस्लाविया संधि
- 3.5 राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सुरक्षा प्रयास
 - 3.5.1 पारस्परिक संधि का मसविदा
 - 3.5.2 जेनेवा प्रोटोकॉल
 - 3.5.3 लोकार्नो समझौता
 - 3.5.4 कैलोग-बियां समझौता
 - 3.5.5 सामान्य अधिनियम
- 3.6 निशस्त्रीकरण
 - 3.6.1 राष्ट्र संघ के अन्तर्गत
- 3.7 राष्ट्र संघ के बाहर
 - 3.7.1 वाशिंगटन कान्फ्रेंस
 - 3.7.2 द्वितीय नौसेना कान्फ्रेंस
 - 3.7.3 लन्दन नौसेना सम्मेलन
- 3.8 इकाई सारांश
- 3.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस एवं जर्मनी, यूरोप में प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में उभर कर आये थे । जर्मनी की राष्ट्रीय एकता 1870 में फ्रांस को हरा कर ही पूर्ण हुई थी । 1870 ई. में सेडान के युद्ध में फ्रांस को हरा कर न केवल वर्साय के शीशमहल में जर्मनी के एकीकरण की घोषणा की गई थी । अपितु जर्मनी ने बलपूर्वक फ्रांस के दो प्रदेश अल्सेस एवं लॉरेन छीन

लिए थे । पुनः 1914 में महायुद्ध प्रारम्भ होने के बाद जर्मनी की सेनाओं ने फ्रांस को रौंद डाला था । यद्यपि महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मनी की हार हुई, वर्साय की संधि में जर्मनी को बुरी तरह अपमानित किया गया, अल्लेस एवं लॉरेन उससे छीन कर पुनः फ्रांस को दे दिए गए । संधि के पश्चात् फ्रांस यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया था, लेकिन फिर भी वह जर्मनी की ओर से शंकित था तथा संधि के तुरंत पश्चात् ही पुनः जर्मनी के सम्भावित आक्रमण से निपटने के लिए वह अपनी सुरक्षा संबंधी प्रयास करने लगा । फ्रांस के यही प्रयास उसकी 'सुरक्षा की खोज' कहे जाते हैं ।

3.1 प्रस्तावना

इतिहासकार लेंगसम का मत है कि प्रथम महायुद्ध की अंतिम प्रतिध्वनि समाप्त होने से बहुत पहले ही फ्रांस ने फिर से सम्भावित जर्मन आक्रमण से अपनी सुरक्षा के प्रयास प्रारम्भ कर दिए थे । विद्वान लेखक का कहना है कि फ्रांस की यह आशंका निराधार नहीं थी क्योंकि इससे पहले वह 45 वर्षों में दो बार जर्मनी से पददलित हो चुका था । फ्रांस में सुरक्षा प्रयत्नों के लिए सर्वाधिक रुचि लेने वाला नेता पोइन्कर था । लॉरेन का मूलनिवासी होने के कारण उसे जर्मनी से जन्मजात घृणा थी । उसका विचार था कि जब तक जर्मनी आर्थिक और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली है तथा उसकी जनसंख्या वृद्धि दर फ्रांस से अधिक है, तब तक फ्रांस के लिए यह परम आवश्यक है कि उसकी सुरक्षा एवं सहायता के लिए लौह आवरण युद्ध गारंटी प्राप्त होती रहे।

फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए अधिक चिन्ताशील हो गया था इसका एक कारण यह भी था कि महायुद्ध से पहले उसके साथ रूस जैसा सशक्त मित्र था परन्तु महायुद्ध के दौरान रूस में बोल्शेविक क्रांति होने से जारशाही की समाप्ति हो गई थी और फ्रांस का यह आसरा समाप्त हो गया था ।

महायुद्ध के पश्चात् फ्रांस की राजनैतिक स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं थी, नेताओं के गृहनीति के मामले में आपसी तीखे विवाद थे लेकिन जहाँ तक फ्रांस की सुरक्षा की खोज का कार्य था उसमें वे सभी एक मत थे ।

3.2 भौतिक सुरक्षा की मांग

अपनी भावी सुरक्षा के लिए फ्रांस ने पेरिस शांति सम्मेलन में मांग की कि राइन नदी के बाएँ तट के प्रदेश को जर्मनी से अलग करके पृथक राज्य बना दिया जाए तथा यह प्रदेश फ्रांस के प्रभाव में रहे । यद्यपि फ्रांस की यह मांग तो स्वीकार न हो सकी लेकिन फिर भी उसने वर्साय की संधि में यह व्यवस्था करा ली कि 15 वर्ष तक राइन नदी के बाएँ तट के प्रदेश पर मित्र राष्ट्रीय सेनाओं का कब्जा रहे, और इन सेनाओं के हटने पर भी जर्मनी यहाँ कोई किलेबन्दी न करा सके ।

इस कदम के पश्चात् फ्रांस ने कोशिश की कि ब्रिटेन एवं अमरीका उसे इस बात की गारंटी दे दे कि भविष्य में यदि जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे तो वे उसकी पूरी-पूरी सहायता करेंगे । ब्रिटेन एवं अमरीका की अपनी सुरक्षा, के मामलों ने बेरुखी देख फ्रांस ने स्वयं इस दिशा में अपनी ओर से प्रयास करना प्रारम्भ किया । फ्रांस का यह सोचना था कि ब्रिटेन एवं

अमरीका ने उसके साथ धोखा किया है इसलिए वह अपनी सुरक्षा हेतु चिंतित था उसने वर्साय संधि एवं वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखने के इच्छुक विभिन्न देशों के साथ मैत्री संधियों के जाल द्वारा अपने को सुरक्षित करना चाहा । फ्रांस के ये प्रयास कुछ राष्ट्र संघ के बाहर किये गये तथा कुछ राष्ट्र संघ के अंतर्गत जिनका ब्यौरा इस प्रकार है ।

3.3 राष्ट्र संघ के बाहर प्रयास

बड़े राष्ट्रों से अपनी सुरक्षा का आश्वासन न मिलने पर फ्रांस ने छोटे-छोटे राष्ट्रों से संधियों कर अपना गुट बनाने का प्रयास किया, इस दिशा में उसकी पहली संधि बेल्जियम के साथ थी ।

3.3.1 बेल्जियम से संधि

1920 ईसवी में फ्रांस तथा बेल्जियम के बीच हुई इस संधि में दोनों देशों ने जर्मनी का आक्रमण होने पर एक दूसरे की सहायता करने की बात तय की । यद्यपि इस संधि की सूचना राष्ट्र संघ को दे दी गई परन्तु इसकी शर्तें, गुप्त रखी गई । आपसी सैनिक सहयोग के साथ ही साथ फ्रांस ने अपने से आर्थिक दृष्टि से संलग्न लक्समबर्ग को बेल्जियम के साथ भी चुंगी में संलग्न करा दिया ।

3.3.2 पोलैण्ड से सन्धि 1921

फ्रांस तथा पोलैण्ड दोनों को जर्मनी से खतरा था इसके साथ ही साथ पोलैण्ड को रूस से भी खतरा था । पोलैण्ड को, रूस के विरुद्ध, सैनिक, धन एवं शस्त्रास्त्र की सहायता देकर फ्रांस ने अपनी ओर आकर्षित कर लिया तथा 1921 में दोनों संधि सूत्र में बंध गए । संधि में दोनों ने तय किया कि आपसी हितों के मामले में एक दूसरे से परामर्श करेंगे तथा आक्रमण के समय एक दूसरे का सहयोग करेंगे । दोनों ने 1922 में इस संधि की संपुष्टि की तथा 1932 ई. में दस वर्ष के लिए इसे और बढ़ा दिया गया ।

संधि में एक गुप्त शर्त भी रखी गई थी जिसके अन्तर्गत फ्रांस ने पोलिश सेना को सुसज्जित करने के लिए काफी उदार शर्तों पर पोलैण्ड को युद्ध सामग्री की सहायता दी ।

इस संधि के पश्चात फ्रांस तथा पोलैण्ड सभी अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर एक मत रहने लगे।

3.3.3 ब्रिटेन से संधि का पुनः असफल प्रयास 1922

इन दो संधियों के बाद भी अपनी सुरक्षा के लिए फ्रांस शंकित था और उसने पुनः ब्रिटेन से संधि का प्रस्ताव रखा । ब्रिटेन फ्रांस पर जर्मनी के आक्रमण होने पर तो सहायता के लिए तैयार था परन्तु फ्रांस यह भी चाहता था कि जर्मनी के पोलैण्ड पर आक्रमण होने पर भी वह सहायता दे जिसके लिए ब्रिटेन तैयार नहीं हुआ अतः दोनों में संधि न हो सकी । ब्रिटेन ने केवल आश्वासन ही दिया कि यदि अगले 10 वर्षों में कभी अकारण जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करेगा तो वह फ्रांस की सहायता करेगा ।

दोनों में सुरक्षा संधि न होने का मुख्य कारण उनके आन्तरिक मतभेद थे । वाशिंगटन कांफ्रेंस में फ्रांस ने पनडुब्बियाँ समाप्त करने वाले ब्रिटेन एवं अमरीका के प्रस्ताव का विरोध किया था । क्षतिपूर्ति के मामले में भी दोनों देशों में गहरे मतभेद थे तथा इटली तथा स्पेन की

समस्याओं पर भी दोनों एक मत नहीं थे । फ्रांस जब जर्मनी को प्रमुख शत्रु मानता था तब ब्रिटेन रूस को प्रमुख शत्रु मानता था ।

इन्हीं कारणों से फ्रांस एवं ब्रिटेन में संधि न हो सकी थी। इस प्रकार बड़े राष्ट्रों से संधि करने पर असफल होने पर फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए पुनः अन्य छोटे राष्ट्रों से संधियाँ करना प्रारम्भ किया

3.4 लघु राष्ट्रों से समझौता

1923 में कर के प्रश्न पर फ्रांस को ब्रिटेन का सहयोग नहीं मिला इससे उसे यूरोप में अपने नये मित्र बढ़ाने की तीव्र आवश्यकता महसूस हुई जो हालांकि छोटे राष्ट्र थे लेकिन यूरोपीय राजनीति में उनको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था । ये छोटे राष्ट्र जिनसे फ्रांस ने संधि की, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया थे जिन्हें कि हंगरी से भय था । इन्होंने इसी कारण से फ्रांस से दृढ़ सैनिक मित्रता चाही और इसकी प्राप्ति पर यह सर्वत्र फ्रांस की विदेश नीति के समर्थक बन गए ।

3.4.1 फ्रांस-चेकोस्लोवाक समझौता: 1924

इस समझौते के अन्तर्गत दोनों ने तय किया कि वे आपसी झगड़ों का शांतिप्रिय उपायों द्वारा निपटारा करेंगे । जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया के पुनः मिलने या राज्य शाही की स्थापना का पुनः प्रयास करने पर पारस्परिक सम्पर्क कर समान नीति का अनुसरण करेंगे । अपनी-अपनी सुरक्षा तथा शांति संधि के क्रियान्वयन के लिए भी दोनों ने सम्मिलित उपाय करना तय भी किया ।

3.4.2 फ्रांस-रूमानिया समझौता

1926 ई. में किए गए इस सुरक्षा समझौता में फ्रांस और रूमानिया ने तय किया था यदि कोई भी यूरोप की वर्तमान स्थिति में परिवर्तन का प्रयास करे तो दोनों सम्मिलित रूप से उसका विरोध करेंगे तथा दोनों, मे से किसी पर भी अन्य राष्ट्र का आक्रमण होने पर वे तुरन्त आपसी सहायता करेंगे ।

3.4.3 फ्रांस-युगोस्लाविया संधि: 1926

इस संधि में दोनों वही शर्तें तय की जो कि फ्रांस तथा रूमानिया के बीच में होने वाली संधि में थी ।

इन संधियाँ के द्वारा फ्रांस ने अपनी सुरक्षा मजबूत बनाने के भरसक प्रयास किये लेकिन विद्वानों की राय में ये प्रयत्न निरर्थक साबित हुए । इतिहासकार लैंगसम का मत है कि सुरक्षा के नाम पर जो नई फ्रांस-सर्वोच्चता लाई गई थी वह एक उसी प्रकार के सैनिक कैम्प पर, आधारित थी जो कि 1914 में बिल्कुल बेकार एवं खतरनाक साबित हुआ था ।

इन संधियों का एक दुष्परिणाम भी था कि इनके द्वारा फ्रांस पर पाँच ऐसे राष्ट्रों की सुरक्षा का भार आ गया जिनमें से कोई भी प्रथम श्रेणी की शक्ति नहीं था और जिनके अनेक शत्रु थे ।

वस्तुतः अपने प्रयासों से फ्रांस अपनी सुरक्षा का कोई ठोस एवं निश्चित प्रबंध नहीं कर सका था इसलिए वह राष्ट्र संघ के माध्यम से भी अपनी सुरक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा ।

3.5 राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सुरक्षा प्रयास

फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए राष्ट्रसंघ के आर्थिक प्रतिबंधों की पूर्णतया बेकार समझता था । वह चाहता था कि राष्ट्रसंघ आक्रमण की निश्चित परिभाषा करे तथा आक्रमणकारी के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही का पूर्ण स्पष्टीकरण करे । फ्रांस की उपर्युक्त माँग तथा उसकी सुरक्षा संबंधी निरन्तर जिद के आगे राष्ट्र संघ ने समय समय पर जो कार्य कराये वे इस प्रकार से थे-

1. पारस्परिक संधि का मसविदा
2. जेनेवा प्रोटोकॉल
3. लोकार्नो संधियाँ
4. पेक्ट ऑफ पेरिस
5. जनरल एक्ट, 1928
6. निशस्त्रीकरण

अब हम एक एक करके राष्ट्रसंघ द्वारा सुरक्षा के लिए किए गये इन प्रयासों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे-

3.5.1 पारस्परिक सहायता की संधि का मसविदा

1921 में राष्ट्र संघ ने शस्त्रीकरण कम किये जाने के संबंध में राय देने के लिए एक कमीशन बनाया । इस कमीशन ने एक पारस्परिक संधि का मसविदा तैयार किया जिसे कि लीग की चतुर्थ कॉउन्सिल ने 1923 में पारित किया । इस मसविदे में तय किया गया कि-

1. मसविदे पर हस्ताक्षर करने वाला कोई राष्ट्र आक्रमण नहीं करेगा ।
2. कहीं युद्ध होने पर राष्ट्र संघ चार दिन की अवधि में आक्रांत को घोषित करेगा ।
3. राष्ट्र संघ यह निश्चित करेगा कि आक्रांता के विरुद्ध कौन-कौन से सैनिक एवं वित्तीय प्रयास किये जावें ।

इस मसविदे को सैद्धान्तिक दृष्टि से 18 राष्ट्रों द्वारा माना गया जिसमें कि फ्रांस, इटली तथा जापान प्रमुख थे तथा इसे न मानने वाले 12 राष्ट्रों में ब्रिटेन अमरीका, जर्मनी तथा रूस प्रमुख थे।

इस मसविदे में कुछ कमियाँ थी क्योंकि इसमें आक्रमण की परिभाषा स्पष्ट नहीं थी साथ ही आक्रमणकारी के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने के लिए राष्ट्र संघ के पास पर्याप्त अधिकार नहीं थे।

ब्रिटेन इस मसविदा का सबसे ज्यादा विरोधी था क्योंकि सारे संसार में साम्राज्य होने के कारण इसे मानने से उसकी जिम्मेदारी कई गुना बढ़ सकती थी । इस प्रकार बड़े-बड़े राष्ट्रों की बेरुखी के कारण यह प्रयत्न बेकार गया ।

3.5.2 जेनेवा प्रोटोकल

असफल होने के बावजूद भी मसविदा ने यूरोप में सुरक्षा तथा निशस्त्रीकरण की आवश्यकता को पर्याप्त प्रचारित किया था । संयोग से इसी समय इंग्लैण्ड में शान्तिवादी श्रमदलीय रेमजे मेकडॉनलड तथा फ्रांस में उग्रवादी पोइंकर के स्थान पर हेरियो, सत्ता प्रमुख थे अतः 1924 में राष्ट्र संघ की पाँचवीं एसेम्बली के सामने उन्होंने एक प्रस्ताव रखा जिसका मूल उद्देश्य था कि आक्रांता निश्चित करने का काम राष्ट्रसंघ पर नहीं अपितु किसी मध्यस्थ या पंच निर्णय पर हो। इस प्रस्ताव के आधार पर यूनानी प्रतिनिधि पॉलिटिस तथा चेक प्रतिनिधि बेन्स ने एक योजना तैयार की जिसे राष्ट्रसंघ की सभा द्वारा 2 अक्टूबर, 1924 को स्वीकार कर लिया गया तथा इसे "प्रोटोकल फॉर दी पेसेफिक सेटलमेण्ट ऑफ इन्टरनेशनल डिस्प्यूट्स" नाम दिया गया तथा जेनेवा में होने के कारण इसे संक्षिप्त रूप से 'जेनेवा प्रोटोकल' कहा गया ।

इस प्रोटोकल की मुख्य धारयाँ थी-

1. युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय जुर्म है ।
2. इस पर हस्ताक्षर करने वाला राष्ट्र आत्मरक्षा एवं राष्ट्रसंघ के आदेशों के अलावा अन्य किसी अवस्था में युद्ध नहीं कर सकेगा ।
3. सभी राष्ट्र अपने न्यायिक मामले अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा राजनैतिक मामले लीग काउन्सिल या विशेष मध्यस्थ समितियों के माध्यम से ही सुलझावेंगे ।
4. किसी झगड़े के मध्यस्थ निर्णय या शांतिपूर्ण हल को ठुकरा कर लड़ाई करने वाले राष्ट्र को आक्रांता माना जायेगा ।
5. आक्रांता के विरुद्ध राष्ट्र संघ आर्थिक बायकॉट घोषित कर सकेगा ।
6. युद्ध का खर्चा आक्रांता से उसकी देने की क्षमता तक लिया जावेगा परन्तु इसमें उसकी सीमा शामिल न होगी ।
7. निशस्त्रीकरण के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन 15 जून, 1925 को बुलाया जाय ।

लेकिन यह जेनेवा प्रोटोकल भी सफल न हो सका, यद्यपि 17 राष्ट्रों द्वारा इसे स्वीकार कर लिया गया था परन्तु ब्रिटेन एवं उसके उपनिवेशों द्वारा न मानने के कारण यह निस्प्राण हो गया।

लेकिन फिर भी फ्रांस इससे संतुष्ट था क्योंकि प्रोटोकल में वर्साय संधि तथा विशेष रूप से उसके सीमा संबंधी निर्णय जारी रखने की बात स्वीकार की गई थी ।

3.5.3 लोकार्नो समझौता

जेनेवा प्रोटोकल की असफलता तथा फ्रांस की यह माँग कि उसकी सुरक्षा की पक्की गारंटी बिना वह निशस्त्रीकरण सम्मेलन में शामिल नहीं होगा, इनकी वजह से जो नये प्रयास किए गए वे लोकार्नो संधियों के रूप में फलीभूत हुए

अक्टूबर, 1925 में फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड के प्रतिनिधि बराबर के दर्जे से स्विटजरलैण्ड के लोकार्नो नामक स्थान पर शांति प्रयासों

के लिए मिले सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के विदेशमंत्री क्रमशः चेम्बरलेन, ब्रियां एवं स्टेटसमान थे जो कि तीनों ही शांतिवादी थे । ये संधियाँ जिस समय तय की जा रही थी उस समय का वातावरण अत्यन्त मधुर एवं मैत्रीपूर्ण था तथा इससे बदली भावना को लोकार्नो भावना का नाम दिया गया ।

यूरोप में शांति स्थापना तथा फ्रांस की सुरक्षा की गारंटी के लिए लोकार्नो में सात संधियाँ की गईं। पहली संधि 'पारस्परिक गारंटी की संधि' थी जिसके अन्तर्गत जर्मनी, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और इटली ने वर्साय की संधि द्वारा निर्धारित जर्मनी, फ्रांस और बेल्जियम की सीमाओं की सुरक्षा तथा राइन प्रदेश के विसैन्यीकरण की गारंटी दी । इसके साथ ही जर्मनी, फ्रांस एवं बेल्जियम ने आपस में तय किया कि वे कुछ अपवादों को छोड़कर न तो एक दूसरे पर आक्रमण करेंगे और न ही युद्ध छेड़ेंगे । ये अपवाद थे (अ) न्यायपूर्ण आत्मरक्षा (ब) विसैन्यीकरण व्यवस्था का ज्वलंत या बड़ा उदाहरण (स) राष्ट्रसंघ की आदेशित सैनिक कार्यवाही ।

इस संधि के सभी राष्ट्रों ने यह भी तय किया कि वे अपने बीच उत्पन्न विवादों का शांतिपूर्ण हल खोजेंगे । संधि का उल्लंघन करने वाले के खिलाफ सम्मिलित कार्यवाही करेंगे । संधि उल्लंघन के मामले राष्ट्रसंघ की परिषद को सौंपेंगे । संधि के तुरन्त पश्चात जर्मनी को राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया ।

लोकार्नो सम्मेलन की दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवी संधियाँ 'मध्यस्थता सम्बन्धी संधियाँ' थी जो कि जर्मनी-बेल्जियम, जर्मनी-फ्रांस, जर्मनी-पोलैण्ड तथा जर्मनी-चेकोस्लोवाकिया के साथ हुई । इन चारों संधियों में निर्णय किया गया कि जर्मनी और इन राष्ट्रों के बीच होने वाले झगड़ों को किसी मध्यस्थ या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा जावेगा ।

छठी एवं सातवीं संधियाँ गारंटी संधियाँ थी जो कि फ्रांस और पोलैण्ड तथा फ्रांस और चेकोस्लावाकिया के बीच में हुई तथा दोनों में ही तय किया गया कि लोकार्नो संधि का उल्लंघन कर यदि कोई अन्य राष्ट्र युद्ध छेड़ता है तो ये राष्ट्र एक दूसरे की सहायता करेंगे ।

इन संधियों पर 1 दिसम्बर, 1925 में, हस्ताक्षर हुए तथा 14 सितम्बर 1926 से ये लागू की गईं।

लोकार्नो समझौते की सफलता की चर्चा करते हुए फ्रांस के विदेश मंत्री ब्रियां न कहा था कि यह जर्मनी के लिए शांति है, यह फ्रांस के लिए शांति है । इतिहासकार गेथोर्न हार्डी का मत है कि इन संधियों ने फ्रांस एवं जर्मनी की पुरानी शत्रुता को समाप्त कर दिया । इन संधियों से जर्मनी ने फ्रांस की अल्सेस एवं लोरेन पर प्रभुता स्वीकार कर ली थी । ई. एचंकार का मत है कि यह जर्मनी एवं फ्रांस की आवश्यकताओं के मध्य एक उचित एवं निष्पक्ष निर्णय था क्योंकि इसमें फ्रांस की सुरक्षा की आवश्यकता तथा वर्साय की संधि में जर्मनी की संशोधन की मांग दोनों का समावेश था ।

लेकिन इतिहासकार ग्रांट एवं टेम्परले ने इसे असफल मानते हुए लिखा है कि इन संधियों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सत्यता को समाप्त कर सन्देह का वातावरण फैलाया था । इनके द्वारा स्टेटसमान फ्रांस को भ्रम में रख कर युद्ध की तैयारियाँ करता रहा यह बात उसकी मृत्यु के बाद उसके पत्रों से मालूम पड़ी ।

3.5.4 कैलोग-ब्रियां समझौता: (पेरिस समझौता)

कालान्तर में जेनेवा प्रोटोकॉल तथा लोकार्नो संधियाँ जब दोनों ही असफल हो गईं तब अपने देश की सुरक्षा के लिए चिन्तित फ्रांस के विदेश मंत्री ब्रियाँ ने पेरिस में कुछ अमरीकी नागरिकों से सम्पर्क किया तथा निर्णय लिया कि युद्ध तब तक नहीं रोके जा सकते हैं जब तक अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने में सेनाओं एवं शस्त्रों के उपयोग को पूर्णतया वर्जित नहीं कर दिया जाता। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु ब्रियाँ ने अमरीकी विदेश मंत्री कैलोग के सामने एक प्रस्ताव रखा। दोनों की सलाह पर युद्ध परित्याग की घोषणा करने वाली एक सामान्य संधि का मसविदा तैयार किया गया, तथा इस पर 27 अगस्त, 1928 को 15 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर कर दिए तथा 24 जुलाई, 1929 को अमरीकी राष्ट्रपति हूवर ने इसकी घोषणा की। यह समझौता 'पेरिस पेक्ट' या 'कैलोग-ब्रियां समझौता' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 1933 तक 65 राष्ट्रों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए।

इस समझौते में घोषणा की गई थी कि मानवता के हित में युद्ध का सर्वथा त्याग हो, सब देशों में मैत्री पूर्ण व्यवहार तथा शांति स्थापित हो। सभी झगड़ों का शांतिपूर्ण हल हो। युद्ध किसी भी अवस्था में नहीं किया जावे केवल चार अपवादों को छोड़कर। ये चार अपवाद थे (1) आत्मरक्षा (2) संधि तोड़ने वाले के खिलाफ (3) ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा (4) राष्ट्रसंघ का आदेश।

इस समझौते को विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का पहला समझौता कहा गया था। इसमें सब देशों ने अपनी जनता की ओर से युद्ध न करने की अपनी राष्ट्रीय नीति की घोषणा की। अपनी सुरक्षा की गारंटी मिलने से फ्रांस भी इससे संतुष्ट था।

लेकिन इस समझौते में कमी यह रही कि इसमें शर्त के क्रियान्वयन की कोई व्यवस्था नहीं थी, वह केवल सदस्यों की दया पर निर्भर थी, साथ ही शर्त तोड़ने वाले के विरुद्ध कोई दण्ड की व्यवस्था नहीं थी, इसीलिए कुछ व्यक्तियों ने इसे बिना दांत वाला शेर कह कर पुकारा था। लेंगसम का कहना है कि इस समझौते के पश्चात् ही विश्व में 'अघोषित युद्धों' का सिलसिला प्रारम्भ हुआ था।

3.5.5 सामान्य अधिनियम (जनरल-एक्ट) 1928

राष्ट्रसंघ की ओर से युद्ध रोकने की यह अंतिम और असफल चेष्टा थी। 1928 में ही राष्ट्रसंघ की एसेम्बली ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के शांतिपूर्ण निबटारे के लिए यह एक सामान्य अधिनियम बनाया था। दुर्भाग्यवश इसे भी सफलता न मिल सकी तथा 1935 तक इसे केवल 23 राष्ट्रों ने ही स्वीकार किया तथा इस अधिनियम की कोई व्यावहारिक उपयोगिता भी सिद्ध नहीं हो सकी और सामूहिक सुरक्षा पद्धति स्थापित करने की राष्ट्रसंघ की अन्तिम महत्वपूर्ण चेष्टा भी असफल सिद्ध हुई।

3.6 निशस्त्रीकरण

फ्रांस तथा विश्व की सुरक्षा की दृष्टि से एक अन्य प्रयास था निशस्त्रीकरण। निशस्त्रीकरण के लिए लीग के अन्तर्गत तथा लीग के बाहर सभी प्रकार के प्रयास किए गए। इसके लिए अनेक

सम्मेलन बुलाये गए तथा समय-समय पर ढेरों प्रस्ताव पारित किए गए लेकिन अन्ततोगत्वा सभी असफल हुए। संक्षिप्त में निशस्त्रीकरण की दिशा में किए गए इन प्रयासों का विवरण इस प्रकार से है-

3.6.1 राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत

राष्ट्र संघ में निशस्त्रीकरण के लिए 1920 में एक स्थायी सलाहकार कमीशन, 1921 में अस्थायी मिश्रित कमीशन तथा 1923 में इसके लिए आपसी सहयोग की संधि का मसविदा तैयार करने की व्यवस्था की गई थी। राष्ट्रसंघ ने 1924 में जेनेवा प्रोटोकॉल तथा को-ऑर्डिनेशन-कमीशन के माध्यम से तथा 1925 में तैयारी कमीशन के माध्यम से निशस्त्रीकरण के प्रयासों को आगे बढ़ाया। 3 फरवरी, 1932 को जेनेवा में एक निशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाया गया जिससे 57 देशों के 232 प्रतिनिधि शामिल हुए। सम्मेलन में कुल 337 प्रस्ताव आये लेकिन लाभ कुछ भी न हो सका क्योंकि फ्रांस की सुरक्षा तथा जर्मनी की समानता की दो विरोधी मांगों के मध्य यह सम्मेलन असफल रहा। इसके पश्चात भी जेनेवा में पाँच शक्ति सम्मेलन (दिस.1932), ब्रिटिश प्रस्ताव (16 मार्च, 1933) एवं साइमन प्रस्ताव द्वारा निशस्त्रीकरण की दिशा में प्रयास चलते रहे तथा इसकी अन्तिम बैठक 29 मई, 1934 को हुई तथा इतिहासकार बेन्स के अनुसार अपनी दो वर्ष की कार्यवाही में यह सम्मेलन एक भी विमान, टैंक या बन्दूक कम नहीं करा सका। इस सम्मेलन को असफलता के कारणों में एक सबसे प्रमुख कारण फ्रांस की अपनी सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय फौज के निर्माण की हट थी जिसे उस काल में पूरा करना असम्भव था।

3.7 राष्ट्रसंघ से अलग प्रयास

निशस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रसंघ के बाहर किये जाने वाले प्रयासों में पहला था-

3.7.1 वाशिंगटन कॉफ्रेंस (1921 -22)

इस कॉफ्रेंस को आंशिक सफलता मिली थी तथा यह जहाजी युद्धों एवं विमान-वाहक पोतों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा सकी थी। इस सम्मेलन की सबसे महत्वपूर्ण संधि Five Power treaty Limiting Naval Armament द्वारा बड़े युद्धपोतों-वायुयान वाहक पोतों के कुल टनों की मात्रा निश्चित की। फ्रांस ने पनडुब्बियों को समाप्त करने का घोर विरोध किया। प्रशान्त महासागर में नये अड्डे न बनाने पर सहमति विषैली गैसों का प्रयोग निषिद्ध इत्यादि बातों का भी उल्लेख था। वास्तव में यह सम्मेलन अन्य सम्मेलनों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था जो काफी सीमा तक सफल भी रहा।

3.7.2 द्वितीय नौसेना कॉफ्रेंस , जेनेवा (1927)

इसमें सम्मिलित होने वाले तीनों राष्ट्रों-जापान, अमेरिका, ब्रिटेन-के प्रतिनिधि नौ सेनापति एवं नौ विशेषज्ञ थे वास्तविकता यह थी कि वे अपने व्यवसाय को ठप्प नहीं करना चाहते थे। इस सम्मेलन में छोटे-छोटे जहाजों पर भी सीमा लगाने का प्रस्ताव रखा गया था लेकिन ब्रिटेन

द्वारा अपने 80 हजार मील लम्बे व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के कारण इसका विरोध किया गया तथा इसे असफलता मिली साथ में इसकी वजह से राष्ट्रों में आपसी शंका और अधिक बढ़ गई । इसकी असफलता से एंग्लो-अमेरिकन संबंधों में तनाव पैदा हो गया ।

3.7.3 लन्दन नौसेना सम्मेलन (1930)

यह सम्मेलन तीन महान नौसेना शक्तियों की कूजर शक्ति निर्धारित करने के लिए बुलाया गया था । यद्यपि इन शक्तियों ने अपनी कूजर शक्ति का अनुपात भी तय कर लिया लेकिन इनकी आपसी शंकायें इस सम्मेलन में और भी ज्यादा बढ़ गई थी तथा लैंगसम के अनुसार सम्मेलन के एक दशक पश्चात होने वाले भयंकर विध्वंस के रास्ते में यह एक मील का पत्थर साबित हुआ ।

इसी प्रकार 1935 के लन्दन नौ सेना सम्मेलन की असफलता के पश्चात् निशस्त्रीकरण सम्मेलनों का नाटक भी समाप्त हो गया ।

फ्रांस ने अपनी भावी सुरक्षा के लिए इस प्रकार राष्ट्रसंघ के माध्यम से तथा राष्ट्र संघ के बाहर एक भी प्रयास नहीं छोड़ा । फ्रांस, जर्मनी के संभावित आक्रमण की चिन्ता से सदैव ग्रसित रहा तथा उसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जर्मनी को एकाकी तथा शक्तिहीन करने तथा अपने को पूरा-पूरा शक्तिशाली बनाने का भरसक प्रयास किया । फ्रांस ने जर्मनी से अपनी सुरक्षा के लिए एक लौह आवरण युक्त सुरक्षा अपने देश के लिए की, लेकिन जर्मनी में हिटलर के उत्थान के पश्चात फ्रांस और उसके साथियों के ये सभी सुरक्षा प्रयास एक-एक करके विफल कर दिए गये और द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही फ्रांस की यह सारी सुरक्षा व्यवस्था चरमरा कर टूट गई और जर्मन सेनाओं ने पुनः फ्रांस को पदाक्रांत कर दिया ।

3.8 इकाई सारांश

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सभी देश यह चाहते थे कि भविष्य में युद्धों का निवारण एवं उनकी भयंकर विभिषिका से छुटकारा प्राप्त किया जाये । सभी देश अपने को अधिकाधिक सुरक्षित बनाने हेतु सतत् प्रयत्न शील बने रहे । युद्धों को रोकने एवं राष्ट्रों को सुरक्षित बनाने की दिशा में शान्ति के दूतों ने राष्ट्र संघ की स्थापना की थी जिसने विश्व सुरक्षा को बनाये रखने की दिशा में अनेक प्रयास किये । फ्रांस ने अपने को सर्वाधिक असुरक्षित महसूस किया क्योंकि उसे डर था कि जर्मनी फिर सशक्त होकर अपनी पराजय एवं अपमान का बदला अवश्य लेगा इसलिए जर्मनी से अपनी सुरक्षा संबंधी प्रयास करने लगा । इसके लिए फ्रांस ने अपनी भौतिक सुरक्षा की मांग की । व्यक्तिगत स्तर पर उसने बैल्जियम, पोलैण्ड, ब्रिटेन एवं अन्य छोटे-छोटे राष्ट्रों के साथ संधियां करके अपने को सुरक्षित बनाने की चेष्टा की । राष्ट्र संघ ने भी अपने सुरक्षा उद्देश्यों को ध्यान में रखकर फ्रांस को सुरक्षा प्रदान करने की दिशा में कदम उठाये जिनमें विशेष रूप से पारस्परिक सहायता संधि का मसविदा, जेनेवा प्रोटोकॉल, लोकार्नो संधि पेरिस पेक्ट एवं निःशस्त्रीकरण उल्लेखनीय है । लेकिन 1933 में जर्मनी में अप्रत्याशित रूप से हिटलर का उदय होना फ्रांस के लिए दुर्भाग्य की बात थी जो वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी के मुख पर लगाई गई कालिमा को धो डालने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था । उसका लक्ष्य फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध की गई गुटबन्दी को छिन्न-भिन्न करके उसे विश्व में मित्रहीन

करना था जिसमें वह सफल भी रहा और फ्रांस द्वारा किये गये सारे सुरक्षा प्रयास बेकार सिद्ध हुए। द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मन सेनाओं ने पुनः फ्रांस को रौंद डाला।

3.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लैंगसम-दी वर्ल्ड सिन्स 1919
2. गेथोर्न हॉडी-ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स
3. ई. एच. कार-इंटरनेशनल रिलेशन्स बिटवीन दी टू वर्ल्ड वार्स
4. पामर एण्ड पर्किन्स-इंटरनेशनल रिलेशन्स
5. जी. पी. गूच-हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न योरोप
6. एफ. ली. बेन्स-योरोप सिन्स, 1914
7. डेविड थाम्पसन-वर्ल्ड हिस्ट्री (1914-1945)
8. डॉ. मथुरालाल शर्मा-आधुनिक विश्व (1917-1945)
9. सी. डी. हेजन एवं एस. पी. वर्मा-आधुनिक यूरोप का इतिहास
10. मदनगोपाल-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

इकाई-4

आर्थिक थकान-क्षतिपूर्ति की समस्या

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 क्षतिपूर्ति का अर्थ
- 4.3 समस्या का स्वरूप
- 4.4 समस्या का प्रथम चरण (जनवरी 1921-अप्रैल 1921)
 - 4.4.1 मित्र राज्यों के सम्मेलन
 - 4.4.2 क्षतिपूर्ति आयोग का कार्य
 - 4.4.3 प्रथम किश्त की अदायगी
- 4.5 समस्या का द्वितीय चरण (मई 1921-29)
 - 4.5.1 क्षतिपूर्ति अदा करने में जर्मनी की कठिनाइयाँ तथा क्षतिपूर्ति के सम्भाव्य तरीके
 - 4.5.2 क्षतिपूर्ति के मुद्दे को लेकर आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद
 - 4.5.3 रूर पर आक्रमण तथा प्रभाव
 - 4.5.4 डावेस योजना एवं उसके गुण व दोष
 - 4.5.5 यंग योजना
- 4.6 क्षतिपूर्ति समस्या का अन्तिम चरण (1930-1932)
 - 4.6.1 हूवर निलम्बन अवधि
 - 4.6.2 लोसान सम्मेलन और क्षतिपूर्ति का अन्त
- 4.7 क्षतिपूर्ति समस्या की आर्थिक थकान की समीक्षा
- 4.8 इकाई सारांश
- 4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् उभरी क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या का सांगोपांग अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन से आप निम्न बातें समझ सकेंगे-

- क्षतिपूर्ति का अर्थ एवं स्वरूप
- धनराशि अदा करने में जर्मनी की कठिनाइयाँ
- समस्या के समाधान हेतु उठाए गए कदम-विभिन्न सम्मेलन एवं योजनाएँ
- समस्या के विभिन्न जटिल पहलू
- क्षतिपूर्ति समस्या के परिणाम एवं प्रभाव, जो यूरोपीय राजनीतिक तथा आर्थिक क्षितिज पर उदित हुए।

4.1 प्रस्तावना

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जिस शांति, न्याय एवं आर्थिक स्थिरता की कल्पना कर नये युग का श्रीगणेश किया गया था, वह शीघ्र ही छिन्न-भिन्न होने लगा । 1919 के पश्चात् आर्थिक संकट का कोहरा फिर से दिखाई देने लगा क्योंकि विश्रुंखलित यूरोप क्षतिपूर्ति, युद्ध ऋण एवं आर्थिक मन्दी जैसी देत्याकार बाधाओं से एक दशक से अधिक समय तक घिरा रहा । इस अध्याय में हम सिर्फ क्षतिपूर्ति की समस्या पर ही विचार करेंगे ।

सैद्धान्तिक दृष्टि से विजेता को अपने पराजित प्रतिपक्षी से युद्ध का समस्त व्यय वसूल करने का अधिकार दीर्घकाल से माना जाता रहा था । इस अधिकार का इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है कि युद्ध के लिए नैतिक या कानूनी जिम्मेदारी किस पक्ष की थी । लेकिन प्रथम महायुद्ध के दौरान ही, कई देशों के प्रमुख नेताओं ने यह मत व्यक्त किया था कि 'युद्ध क्षतिपूर्ति' की परम्परागत प्रथा का अब त्याग कर देना चाहिए । इसका मुख्य कारण यह था कि इस प्रकार के दावे को पूरा करना अब किसी भी राष्ट्र की शक्ति के बाहर था । यह युद्ध दुनिया-भर में इससे पूर्व तक के सैकड़ों युद्धों से भिन्न था । इस युद्ध का विकराल स्वरूप तथा इसमें हुए जन-धन की क्षति पूर्व-युद्धों से कई गुना ज्यादा थी । आर्थिक क्षति की पूर्ति किसी भी राष्ट्र के बूते के बाहर थी । फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि राष्ट्र अपने नुकसान की भरपाई जर्मनी से चाहते थे किन्तु आर्थिक रूप से जर्जर जर्मनी के लिए क्या यह सम्भव था, विचारणीय है ।

निस्सन्देह क्षतिपूर्ति के प्रश्न ने विश्व के अधिकांश राष्ट्रों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया, किंतु इसका सबसे अधिक प्रभाव यूरोप पर परिलक्षित हुआ और इसलिए यह कहा जाता है कि 'क्षतिपूर्ति का इतिहास युद्धोत्तर यूरोप का इतिहास है ' वास्तव में 1933 तक यूरोपिय इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं आर्थिक घटनाएँ इस समस्या से किसी न किसी रूप से जुड़ी रही ।

4.2 क्षतिपूर्ति का अर्थ

पराजित राष्ट्रों के ऊपर विजयी राष्ट्रों द्वारा क्षतिपूर्ति के दावे प्राचीन काल से ही लादे जाते रहे हैं। विजेता राष्ट्र ने पराजित राष्ट्र से युद्ध में हुई क्षति का मुआवजा लेने में कोई संकोच नहीं किया । इतिहासकार एवं अर्थवेत्ता ई. लिप्सन ने क्षतिपूर्ति को 'युद्ध-दण्ड' माना है । अंग्रेजी भाषा के वेबस्टर नामक शब्दकोष में क्षतिपूर्ति का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया गया है- "यह वह युद्धोत्तर क्षतिपूर्ति है जो पराजित राष्ट्र द्वारा अपने विजेता राष्ट्र को युद्ध के हर्जाने के रूप में अदा करनी होती है । यह अदायगी नकदी, पदार्थ, उपभोग्य द्रव्य, भारी यंत्रों, व्यापारिक जहाजों और अन्य रूपों में करनी पड़ती है तथा यह क्षतिपूर्ति उन प्रत्यक्ष हानियों और घाटों के बदले पराजित राष्ट्र को देनी पड़ती है जो उसके आक्रमण के फलस्वरूप युद्ध के खर्चों या सीमा पर अधिकारों के मूल्य के रूप में विजेता राष्ट्र को उठाने पड़े थे।"

4.3 समस्या का स्वरूप

वर्साय के सम्मेलन में मुआवजा का प्रश्न ठीक ढंग से नहीं उठाए जाने के कारण समस्या ने गम्भीर रूप धारण किया । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्येता ई. एच. कार अपनी

पुस्तक दो विश्व युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में लिखते हैं, 'युद्ध-काल में अनेक देशों की प्रजातन्त्रीय विचारधारा शान्ति-सन्धियों में स्वीकृत पराजित देशों से दण्ड रूप में 'युद्ध क्षतिपूर्ति' वसूलने का विरोध करती थी। मित्र राष्ट्रों की सरकारों को इस राय के सामने दबना पड़ा और उन्होंने वर्साय की सन्धि में अपनी मांग केवल इसी बात तक सीमित रखी कि जर्मनी मित्र और साथी राष्ट्रों की नागरिक जनता की जन-धन की जो भी हानि हुई हो, उसकी क्षतिपूर्ति करे। क्षतिपूर्ति की रकम के भुगतान का प्रश्न मित्र राष्ट्र आयोग अर्थात् क्षतिपूर्ति आयोग पर छोड़ दिया गया जो रकम का निर्धारण करे तथा यह भी सुझाये कि रकम किस प्रकार चुकायी जाय।"

जहाँ तक पराजित राष्ट्र द्वारा विजेताओं को भुगतान करने का प्रश्न है, वर्साय की संधि और पिछले शान्ति संधियों में महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि इस बार शान्ति संधि में भुगतान की कोई रकम निश्चित नहीं की गयी थी। यह बात भी विचारणीय है कि क्षतिपूर्ति ऐसे राष्ट्र से वसूल की जानी थी, जिसे शान्ति-समझौते ने आर्थिक दृष्टि से पहले ही पंगु बना दिया था। फलतः जर्मनी के खेमे वाले राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था तो चरमरा ही गयी साथ ही विश्व को एक विकट आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा। इस सारी समस्या का दुःखद पहलू यह भी रहा कि क्षतिपूर्ति अदा करने वाले राष्ट्रों में अधिनायकवाद का उदय हुआ, जिनके कदमों ने द्वितीय-महायुद्ध के द्वार पर शीघ्र ही दस्तक दी।

उक्त अध्ययन में हमने यह बताया है कि यह युद्ध-विराम संधि से पूर्व यह मान लिया गया था कि मित्र-राष्ट्र अपने क्षतिपूर्ति के दावों को केवल नागरिक सम्पत्ति की क्षति तक ही सीमित रखेंगे और जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण किये जाने पर यह आश्वासन एक प्रमुख आधार बना। वर्साय की संधि में क्षतिपूर्ति से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण धारारयें जोड़ी गयीं, जो इस प्रकार थी-

(1) संधि की धारा 231 में उल्लेख था कि "जर्मनी और उसके मित्रों द्वारा थोपे गये युद्ध के परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रों की सरकारों तथा नागरिकों को होनेवाली क्षति के उत्तरदायित्व को जर्मनी स्वीकार करता है।"

(2) संधि की धारा 232 द्वारा जर्मनी को यह निर्देशित किया गया कि वह मित्र-राष्ट्रों की जनता की 'नागरिक क्षति' की पूर्ति करे।

यह स्मरणीय है कि 'नागरिकों की सम्पत्ति' की स्पष्ट व्याख्या पहले नहीं हो पायी थी, इसलिए युद्ध में मारे या घायल हुए सैनिकों, उनकी विधवाओं तथा उनके आश्रितों को दिये जाने वाली पेंशनों तथा भत्तों को भी 'नागरिक क्षति' का एक भाग मान लिया गया। मित्र राष्ट्रों ने 'नागरिक क्षति' में निम्न बातें शामिल मानी-

- (क) नागरिक सम्पत्ति के विध्वंस एवं विनाश की क्षतिपूर्ति;
- (ख) व्यापारिक एवं अन्य जहाजों की क्षतिपूर्ति; और
- (ग) युद्ध में मारे या घायल हुए सैनिकों उनकी विधवाओं तथा उनके आश्रितों को दिये जाने वाली पेंशनों तथा भत्तों की पूर्ति।

(3) संधि की 233 वीं धारा के अनुसार क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण मित्र राष्ट्रों द्वारा नियुक्त एक 'क्षतिपूर्ति आयोग' करेगा। यह आयोग अपनी रिपोर्ट 1 मई, 1921 तक दे देगा। साथ ही यह भी निश्चित किया गया कि क्षतिपूर्ति आयोग एक ऐसी तालिका भी तैयार करेगा, जिसमें वह उन तौर-तरीकों को सुझायेगा, जिनके अनुसार जर्मन सरकार 1 मई, 1921 से लेकर आगे आने वाले 30 वर्षों में सम्पूर्ण ऋण चुका सकेगा।

(4) आयोग द्वारा 1 मई, 1921 तक रिपोर्ट देने से पूर्व, अन्तिम व्यवस्था के रूप में 5 अरब डॉलर (20 अरब स्वर्ण मार्क) देगा।

उक्त सन्दर्भ में दो बातें महत्वपूर्ण हैं-प्रथम, क्षतिपूर्ति जर्मनी तथा उसके मित्र राज्यों से वसूल करने की बात थी। परन्तु उसके मित्र राज्य-ऑस्ट्रिया, हंगरी एवं बल्गेरिया-इतने अधिक निर्बल हो गये थे कि क्षतिपूर्ति की रकम चुकाना उनके बूते के बाहर था। ऐसी स्थिति में सब कुछ जर्मनी को ही वहन करना था। द्वितीय, युद्ध विराम के समय जर्मनी को पता नहीं था कि शान्ति समझौते द्वारा उसे अपने समस्त उपनिवेशों तथा मुख्य औद्योगिक क्षेत्रों, जिनके द्वारा वह क्षतिपूर्ति का भुगतान कर सकता था, उससे छीन लिये जायेंगे। वर्साय संधि में जर्मनी से क्षतिपूर्ति वसूलने की बात की व्यवस्था थी किन्तु यह रकम कब, किस रूप में तथा कितनी वसूल की जाय, इस बारे में कुछ भी नहीं कहा गया था। अतः क्षतिपूर्ति रकम की वसूली की दिशा में कई अवरोध थे। सुविधा की दृष्टि से आगे के अध्ययन को तीन चरणों में बाँट सकते हैं-प्रथम, द्वितीय, और अन्तिम।

4.4 क्षतिपूर्ति समस्या का प्रथम चरण

(जनवरी 1920-अप्रैल 1921) प्रथम चरण की अवधि अत्यन्त अल्पकालीन रही। इसमें मित्र राष्ट्रों ने क्षतिपूर्ति की रकम को बढ़ा-चढ़ा कर आँका। राज्यों ने अपने ढंग से सम्मेलन आयोजित कर धन वसूलने की पहलू की शुरुआत की। यह कार्यवाही मित्र राष्ट्रों की जर्मनी से क्षतिपूर्ति की भारी-भरकम राशि शीघ्र हड़प लेने की व्यग्रता की द्योतक थी। क्षतिपूर्ति आयोग ने जाँच-पड़ताल के बाद शीघ्र ही अपनी सिफारिश प्रस्तुत कर दी। इस चरण में हम यह भी देखेंगे कि जर्मनी को दबाव में लाकर कुछ रकम मित्र राष्ट्रों को समर्पित करने के लिए बाध्य किया गया।

4.4.1 मित्र राज्यों के सम्मेलन

आयोग ने अपना कार्य करना प्रारंभ कर दिया किन्तु इस बीच मित्र राज्यों ने उस समय तक प्रतीक्षा करना उचित नहीं समझा। अतः क्षतिपूर्ति समस्या पर विचार करने के लिए अप्रैल, 1920 में सानरेमो नामक स्थान पर सम्मेलन हुआ और उसमें यह तय किया गया कि इस रकम के बारे में सीधे-सीधे बातें की जाय। ऐसा सम्मेलन फिर जुलाई में 'स्पा' नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन में पहली बार जर्मनी और उसके शत्रु बराबरी के आधार पर मिलकर आपस में बातचीत के द्वारा इस समस्या को सुलझाने के लिए बैठे, परन्तु यह समस्या हल नहीं हो पायी क्योंकि मित्र राष्ट्र पराजित जर्मनी के साथ रियायत एक सीमा तक ही करना

चाहते थे । केवल यह समझौता हो पाया कि अगले छह महीने तक जर्मनी कितना कोयला मित्र राष्ट्रों को देता रहेगा । राशि के अनुपात के बारे में भी एक महत्वपूर्ण निर्णय लेने में यह बैठक सफल रही । इसके अनुसार एक निश्चित अनुपात तय हुआ । कुल राशि का फ्रांस को 52%, ब्रिटेन को 22%, इटली को 10%, जापान को 0.75%, बेल्जियम को 8%, पुर्तगाल को 0.75% तथा यूनान, रूमानिया, सर्व, क्रीट आदि छोटे राज्यों को शेष 6.5% मिलना था ।

उक्त सम्मेलन के पश्चात् जनवरी, 1921 में पेरिस में हुए मित्र राज्यों के सम्मेलन में एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार जर्मनी से 11 अरब पौंड की मांग की गयी, जिसको 42 वार्षिक किश्तों में देना तय किया गया । इसके अलावा यह भी मांग की गयी की जर्मनी अपने निर्यात व्यापार की आय का 12% भी दे । जर्मनी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इतनी बड़ी राशि का भुगतान करना जर्मनी के लिए असम्भव था । परन्तु असम्भव का विचार जर्मनी के लिए था, मित्र राष्ट्रों के लिए नहीं । वे तो प्रतिशोध की अग्नि में अब भी जल रहे थे । मार्च, 1921 में जर्मनी ने अपनी ओर से पुनः कुछ प्रस्ताव रखे जिन्हें मित्र राष्ट्रों ने ठुकरा दिये । इस बीच जर्मनी ने अपने एक जापान द्वारा क्षतिपूर्ति आयोग का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि उसने कोयला, मशीनों तथा अन्य सामानों के रूप में अन्तरिम क्षतिपूर्ति की पूरी राशि अदा कर दी है । परन्तु क्षतिपूर्ति आयोग ने जाँच पड़ताल के बाद यह निर्णय दिया कि जर्मनी द्वारा अदा की गयी राशि अन्तरिम क्षतिपूर्ति 40% अंश तक ही है । आयोग के इस निर्णय के बाद मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को शेष राशि चुकाने की चेतावनी देते हुए निर्देश दिया कि यदि 7 मार्च तक क्षतिपूर्ति की अदायगी का उन्हें उससे आश्वासन नहीं मिला तो राइन नदी के किनारे पर स्थित उसके तीन औद्योगिक नगरों पर कब्जा कर लिया जायेगा । परन्तु जर्मनी से इस पर कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला । अतः मित्र राष्ट्रों ने उसे अपराधी घोषित करते हुए 8 मार्च को डुजेल डोर्फ, ड्यूसबर्ग तथा रुहरॉट नामक तीन नगरों पर अधिकार कर लिया । इसके अतिरिक्त जर्मनी से आयातित वस्तुओं पर आयात-कर लगा दिया । एक महायुद्ध हारकर अब जर्मनों की वश की बात नहीं थी कि वे सैनिक कार्यवाहियों का प्रतिरोध करें । जर्मनी ने राष्ट्रसंघ से अपील की लेकिन यह अपील ऐसी ही थी जैसे बिरादरी से बहिष्कृत घायल भेड़िया, खूंखार भेड़िया से न्याय की अपील करें ।

4.4.2 क्षतिपूर्ति आयोग का कार्य

मित्र राष्ट्रों ने अपने-अपने क्षतिपूर्ति के दावे क्षतिपूर्ति आयोग के सामने प्रस्तुत किये । 27 अप्रैल, 1921 को क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी द्वारा अदा की जाने वाली क्षतिपूर्ति की कुल राशि, ब्याज-सहित, 33 अरब डॉलर निश्चित की । यद्यपि दावों में मांगी गयी राशि इससे लगभग दुगुनी थी। मई में आयोग ने अदायगी के तरीके भी सुझाये । इसके अनुसार यह पूरी अदायगी तीन तरह के बॉण्डों में की जानी थी । 'अ' एवं 'ब' बॉण्ड के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति का एक तिहाई भाग अर्थात् लगभग 2 अरब 20 करोड़ पौण्ड प्रतिवर्ष 10 करोड़ पौण्ड के हिसाब से चुकाने थे । 'स' बॉण्ड की रकम दो तिहाई भाग थी, जो 4 अरब 40 करोड़ पौण्ड के बराबर थी । इस धनराशि की अदायगी जर्मनी को उसकी भुगतान क्षमता स्थिर हो जाने के बाद करनी थी

। इस प्रकार कुल क्षतिपूर्ति की दो तिहाई राशि की वसूली अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गयी ।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह भी स्पष्ट किया कि 1 मई, 1921 तक जर्मनी ने जो रकम अदा की है वह नितान्त अपर्याप्त है और जर्मनी में स्थित मित्र राष्ट्रों की सेना के खर्च के लिए भी पूरी नहीं पड़ती है । आयोग के इस स्पष्टीकरण का अभिप्राय: यही था कि जर्मनी द्वारा अब तक अदा की गयी रकम का कोई महत्व नहीं था ।

4.4.3 प्रथम किश्त की अदायगी

क्षतिपूर्ति आयोग के निर्णय की चर्चा जर्मन जनता में होना स्वाभाविक ही था और इसके निर्णय के विरुद्ध असंतोष का प्रस्फुटन होना पूर्व अनुमानित था । जर्मनी के प्रतिकूल रुख को देखते हुए मित्र राष्ट्रों ने सैनिक तैयारियां प्रारम्भ कर दी । 5 मई, 1921 को जर्मनी को यह चुनौती दी गयी कि यदि वह उक्त योजना 12 मई तक स्वीकार नहीं करेगा तो मित्र राष्ट्र रूस पर कब्जा करने को स्वतंत्र होंगे । यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि रूस जर्मनी के कोयला, लोहा तथा इस्पात उत्पादन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग था । जर्मनी की नवगठित सरकार ने विवाद को टालने की गरज से मित्र राष्ट्रों की मांगों को स्वीकार कर लिया । तमाम आपदाओं के बावजूद जर्मनी ने प्रथम 6 माह की पूरी किश्त 5 करोड़ पौण्ड (25 करोड़ डॉलर) भी चुका दिये और इस तरह क्षतिपूर्ति-समस्या का पहला चरण समाप्त हुआ ।

4.5 क्षतिपूर्ति समस्या का मध्य चरण (मई 1921-1929)

यह चरण क्षतिपूर्ति के इतिहास का सबसे बड़ा काल है । इसमें क्षतिपूर्ति की समस्या के समाधान में कठोर एवं उदार दोनों ही प्रकार के तरीके अपनाए गए । रूस प्रदेश पर कब्जा मित्र राष्ट्रों की कठोर नीति का द्योतक है जबकि डावेस योजना एवं यंग योजना उदार नीति का प्रमाण है । इस चरण में क्षतिपूर्ति की सर्वाधिक वसूली सम्भव हो पाई । इस काल में विश्व आर्थिक संकट के दौर से भी गुजरा किंतु जर्मनी को आर्थिक थकान का अधिक अहसास हुआ ।

4.5.1 क्षतिपूर्ति अदा करने में जर्मनी की कठिनाइयाँ तथा क्षतिपूर्ति के संभाव्य तरीके

जर्मनी ने यद्यपि छः माह की पूरी किश्त अदा कर दी थी किंतु आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय थी कि वह क्षतिपूर्ति की विशाल राशि अदा करने में असमर्थ था । इसलिए अगले तीन वर्षों तक उसकी यह पहली और आखिरी किस्त थी । क्षतिपूर्ति अदा करने की दिशा में जर्मनी के सम्मुख निम्नलिखित कठिनाइयाँ थी-

1. जर्मनी के उत्पादन के प्रमुख क्षेत्रों पर मित्र राष्ट्रों ने अधिकार कर लिया था ।
2. जर्मनी अपनी सेवाओं द्वारा भी हर्जाने को अदा नहीं करा सकता था, क्योंकि मित्र राष्ट्रों ने उनसे बड़े-बड़े व्यापारिक जहाज भी छीन लिए थे ।
3. भारी टैक्सों से बचने के लिए जर्मनी के पूँजीपतियों ने अपना अधिकांश धन विदेशी बैंकों में जमा कर दिया था । पूँजीपतियों एवं उद्योगपतियों को इस बात की भी आशंका थी कि यदि उनकी पूँजी स्वदेश में ही बनी रही तो उनकी सरकार क्षतिपूर्ति चुकाने के लिए इस पूँजी

को जब्त न कर ले । ऐसा अनुमान है कि लगभग एक अरब डालर की पूंजी विदेशों में लगाई गई थी ।

4. अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जर्मनी को विदेशों से बड़ी मात्रा में कच्चा माल मंगवाना पड़ रहा था । इससे उसकी पूंजी का एक भाग व्यर्थ ही व्यय हो रहा था ।

5. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जर्मनी की साख बहुत कम हो गई थी । कोई भी देश ऐसे देश को कैसे ऋण दे सकता था, जिसकी साख गिर गई हो ।

6. अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जर्मनी के सिक्के मार्क का मूल्य बराबर गिर रहा था । पूंजी की कमी के कारण ही सरकार को अतिरिक्त कागजी मुदा छापनी पड़ रही थी जिससे मुदा स्फीति की समस्या उत्पन्न हो गई । 19 में 20 मार्क इंग्लैण्ड के एक पौण्ड के बराबर थे,

1920 में 250 मार्क एक पौण्ड के बराबर हो गए और 1922 की गर्मियों में 25000 मार्क का मूल्य एक पौण्ड के बराबर हो गया । कालान्तर में मार्क का और बुरी गति से अवमूल्यन हुआ । इस सम्बन्ध में 'कार' ने लिखा है- "मार्क के मूल्य में हास का मौलिक कारण युद्ध काल की आर्थिक अवस्था थी । उस पर जर्मन सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं था । परन्तु एक बार जब मार्क का मूल्य गिरना आरम्भ हो गया तो जर्मन पदाधिकारियों ने इसको रोकने का प्रयास नहीं किया । जर्मन पदाधिकारी यह भली-भाँति जानते थे कि उनके देश की आर्थिक स्थिति जितनी अच्छी होगी, उतना ही अधिक हर्जाना देना होगा ।"

जर्मनी क्षतिपूर्ति की अदायगी दूसरे देशों को तीन प्रकार से चुका सकता था-सोने, माल और सेवाओं के रूप में ।

जहाँ तक सोने द्वारा क्षतिपूर्ति चुकाने का सम्बन्ध है जर्मनी के पास स्वर्ण भण्डार नगण्य था । प्रथम महायुद्ध में उसका स्वर्ण भण्डार रिक्त हो चुका था । अब स्वर्ण प्राप्त करने के दो ही उपाय थे-पहला विदेशी ऋणों के माध्यम से और दूसरा विदेशों से आयात की अपेक्षा अपना निर्यात बढ़ाकर । विदेशों से ऋण प्राप्त करना आसान नहीं था क्योंकि यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था भी डगमगा रही थी । केवल संयुक्त राज्य अमेरिका एवं इंग्लैण्ड ही उसे ऋण दे सकता था, परन्तु इसकी भी एक सीमा थी । दूसरा विकल्प जर्मनी के पास रह गया था । वह आयात की अपेक्षा अपना निर्यात बढ़ा सकता था परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में यह भी सम्भव न रह गया था क्योंकि शान्ति समझौते के अन्तर्गत उसे अपने उपनिवेशों तथा औद्योगिक क्षेत्रों से हाथ धोना पड़ा था । इस प्रकार विदेशी व्यापार के माध्यम से सोने को जमा कर उसे क्षतिपूर्ति के रूप में चुकाना जर्मनी के बूते के बाहर था ।

दूसरा विकल्प माल के रूप में क्षतिपूर्ति की अदायगी थी किंतु कोयला, लोहा, लकड़ी, खनिज पदार्थ, जहाज, कल-कारखानों की मशीनों आदि के रूप में जब क्षतिपूर्ति की अन्तरिम किश्त की अदायगी जर्मनी ने की थी तो मित्र राष्ट्रों ने इसका विरोध किया था क्योंकि इससे सम्बन्धित राष्ट्रों के औद्योगिक हितों का अहित हो रहा था। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड ने अपने नष्ट हुए जहाजों के बदले में जर्मनी से बहुत से जहाज लिए, जिससे उसके जहाज निर्माण उद्योग को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी । इसी प्रकार, अन्य देशों में भी जर्मनी से आया सामान सस्ता बिकने लगा, इससे इन देशों के उद्योगों को बड़ी हानि पहुँची ।

अब, सेवाओं के रूप में हर्जाना अदा करने का विकल्प ही बच रहा था। ऐसा वह दूसरे देशों के सामान की दुलाई अपने जहाजों से करके कर सकता था। परन्तु इस उपाय में दो कठिनाइयाँ थीं। पहली तो यह कि मित्र राष्ट्रों ने बड़ी संख्या में जर्मनी से व्यापारिक जहाज छीन लिए थे। दूसरी यह कि मित्र राष्ट्रों के स्वयं के जहाजों के लिए इतना मात्र नहीं था कि वे अपनी जहाजों का पूर्ण क्षमता से उपयोग कर सकें। इस प्रकार यह तरीका भी कारगर साबित नहीं हो सकता था।

उक्त अध्ययन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जर्मनी के लिए क्षतिपूर्ति जुटाना लगभग असम्भव ही था। उसकी स्वयं की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी, स्वर्ण का अभाव था और अत्याधिक कागजी मुद्रा छापने के कारण उसकी मुद्रा की साख खत्म होती जा रहा थी।

4.5.2 क्षतिपूर्ति के मुद्दे को लेकर आंग्ल-फ्रांसीसी मतभेद

मार्क के मूल्य में अनिष्टकारक गिरावट को देखते हुए अर्थ-विशेषज्ञ यह मान चुके थे कि क्षतिपूर्ति का नगद भुगतान करने की जर्मनी की हैसियत बिलकुल भी नहीं रही है। मित्र राष्ट्रों लिए जर्मन मुद्रा का कोई महत्व नहीं रहा था और यदि जर्मन सरकार भुगतान करना भी चाहती तो उसके पास अन्य मुद्राएं क्रय करने के साधन नहीं थे। ब्रिटिश सरकार इस बात पर जोर दे रही थी कि जर्मनी से दो वर्ष के लिए नगद भुगतान न माँगा जाय। किन्तु फ्रांसीसी लोकमत यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि कर्जदार अपने न्याय दायित्वों से इस प्रकार बचने का प्रयत्न करें और विजयी राष्ट्रों को युद्ध और पुनर्निर्माण का भारी बोझ स्वयं उठाना पड़े। इस प्रश्न ने पिछले दो वर्षों से बिगड़ते संबंधों की पृष्ठभूमि में आंग्ल-फ्रांसीसी संबंधों को अधिक तनावग्रस्त बनाने में मदद की।

यह ठीक है कि युद्ध समाप्ति के समय जर्मनी विरोधी भावनाएँ ब्रिटेन में उतनी ही तीव्र थी जितनी फ्रांस में किन्तु ब्रिटेन में यह तीव्रता तेजी से कम होने लगी। फ्रांस को पराजित जर्मनी से भय था और सुरक्षा के प्रश्न को लेकर वह भयभीत था। इसके विपरीत जर्मन नौ सेना के नष्ट हो जाने से ब्रिटिश साम्राज्य पूरी तरह सुरक्षित हो गया था। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन परम्परा से शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का अनुसरण करता चला आ रहा था। वह यूरोपीय प्रायद्वीप में किसी भी राष्ट्र को शक्तिशाली नहीं होने देना चाहता था।

आंग्ल फ्रांसीसी मतभेद का एक कारण जर्मनी के प्रति अपनायी जाने वाली नीति से संबंधित था। युद्ध के तुरंत बाद ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसके अनुकूल हो गया था, किन्तु 1920 के बाद से स्थिति ऐसी नहीं रही और ब्रिटेन का निर्यात-व्यापार गिरने लगा। इसका असर ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था पर पड़ा। ब्रिटेन का आर्थिक उत्थान तभी संभव था जब विदेशी बाजारों में उसके उत्पादित माल की बिक्री हो। जर्मनी ब्रिटिश सामान का सबसे बड़ा खरीददार था। अतः ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति तभी सुधर सकती थी जब उसके खरीददार देश जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो। इस सबके विपरीत फ्रांस-जर्मनी को कमजोर बनाये रखना चाहता था ताकि वह फिर से उसके लिए संकट का कारण न बन सके। फ्रांस ने युद्ध के दौरान जो नुकसान उठाया था, वह उसे कैसे भूल सकता था। उसका 13,000 वर्ग मील का क्षेत्र पूरी

तरह नष्ट हो गया था। फ्रांस जर्मनी से हर्जाने की राशि प्राप्त कर अपने नष्ट हुए क्षेत्रों को फिर से आबाद करना चाहता था। परन्तु मई, 1921 तक क्षतिपूर्ति बतोर जो रकम प्राप्त हुई वह मित्र राष्ट्रों की जर्मनी में तैनात सेना के खर्च तथा बेल्जियम के खाते में चली गयी और फ्रांस को उसमें से कुछ भी नहीं मिला। इसके विपरीत फ्रांस अपने पुनर्निर्माण पर प्रति मिनट 1150 पौण्ड खर्च कर रहा था। और इसके बदले में उसे जर्मनी से केवल 76 पौण्ड प्रति मिनट ही मिलने वाला था, दुर्भाग्य से वह भी नहीं मिल रहा था। फ्रांस का यह दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी अपनी असमर्थता का केवल बहाना बना रहा है और सत्य तो यह है कि उसकी नीयत साफ नहीं है। उसने यह भी आरोप लगाया कि जर्मन लोग बेहिसाब धन खर्च कर रहे हैं। उपरोक्त मानसिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में जब जर्मनी ने मुहलत की मांग की तब फ्रांस को यह बात बिल्कुल पसंद नहीं आयी। फलतः दोनों राष्ट्रों के मध्य तीव्र विवाद एवं झगड़े की संभावनाएं बढ़ गयीं।

4.5.3 रूर पर आक्रमण एवं प्रभाव

जर्मन प्रस्ताव पर विचार करने के लिए जेनेवा में अप्रैल, 1922 में सम्मेलन बुलाया गया जिसमें नगद भुगतान से जर्मनी को छः माह की छूट दे दी गई। परन्तु जर्मनी का आर्थिक संकट गहराता जा रहा था। अतः जर्मन सरकार ने क्षतिपूर्ति रकम नकद देने में असमर्थता व्यक्त की और मांग की कि नगद अदायगी 1925 तक स्थगित कर दी जाए। ब्रिटेन जर्मनी का अनुरोध मानने को तैयार था किंतु फ्रांस का रवैया अड़ियल ही रहा। इस विवाद पर विचार करने के लिए लन्दन में एक सम्मेलन हुआ किंतु उसका हश्र भी पूर्ववत् ही रहा।

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में होने वाली क्षतिपूर्ति आयोग की बैठक में फ्रांस ने जर्मनी को राशि अदा न करने वाला घोषित प्रस्ताव रखा क्योंकि उसे अपने टेलीफोन के खम्भों के लिए जर्मनी से इमारती लकड़ी की अदायगी न हुई थी। इस पर ब्रिटिश प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा- 'ट्राय को लकड़ी के घोड़े से हराने के बाद यह लकड़ी का सबसे बड़ा दुरुपयोग है।' लेकिन सभापति के निर्णायक मत से, क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को नियत राशि न चुकाने वाला घोषित किया। इस घोषणा का महत्व संधि की उस धारा में निहित था जिसके अनुसार मित्र राष्ट्रों को यह अधिकार मिला था कि 'यदि जर्मनी जानबूझ कर क्षतिपूर्ति नहीं करे तो सम्बन्धित सरकारें आवश्यक कदम उठा सकती हैं।'

इंग्लैण्ड और अमेरिका के विरोध के बावजूद फ्रांस के राष्ट्रपति पोयनकेयर ने एक तरफा कार्रवाई करने का निश्चय किया। फ्रेंच, बेल्जियम और इटालियन सेनाएँ 11 जनवरी, 1923 को रूर में प्रवेश कर गईं। सेना ने डोर्टमुण्ड के पूर्व तक रूर के प्रदेश पर कब्जा कर लिया, तथापि पोयनकेयर ने घोषणा की कि रूर पर कब्जा रखने का फ्रांस का कोई इरादा नहीं है, केवल क्षतिपूर्ति न मिलने तक वे उस पर अधिकार रखना चाहते हैं। अधिकृत प्रदेश यद्यपि केवल 60 मील लम्बा और 28 मील चौड़ा था, किंतु जर्मनी के लिए यह क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से बहुत उपयोगी था। इस क्षेत्र में सम्पूर्ण जर्मनी का 80 प्रतिशत कोयला, लोहा तथा इस्पात उत्पन्न होता था। देश की 70% रेलवे लाइन यहीं थी। इस प्रदेश में 9 नगर थे और जर्मन आबादी का एक बड़ा भाग यहाँ निवास करता था। फ्रांस इस महत्वपूर्ण क्षेत्र पर कब्जा जमाकर

जर्मनी पर क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिए दबाव डालना चाहता था और यहाँ के कारखानों की आय से इस राशि की पूर्ति चाहता था ।

तत्कालीन जर्मन प्रधानमंत्री कूनो ने इस योजना को विफल बनाने के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध और असहयोग की नीति अपनाई । उसने इस प्रदेश के जर्मन लोगों को फ्रेंच सेनाओं का कोई सहयोग न देने, खानों, कारखानों, रेलों तथा उद्योग-धन्धों में अपना काम छोड़ने, कोई कर या टैक्स अदा न करने का आदेश दिया; इस प्रकार बेकार होने वाले व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देने की घोषणा की । जर्मनी की यह कोशिश थी कि इस प्रदेश के उद्योग धन्धे बिल्कुल ठप हो जायें, इनसे फ्रांस को कोई लाभ न मिले, सेना रखने के भारी व्यय से और दीवालिया होने के डर से फ्रांस को अपनी सेनाएँ यहाँ से हटाने को विवश होना पड़े । इस कदम का जर्मन जनता ने भरपूर सहयोग किया । इसके जवाब में फ्रांस ने जर्मनों पर भारी जुर्माने किए गए, उन्हें सजाए दी गयी, उनकी निजी सम्पत्ति जब्त कर ली और सैंकड़ों जर्मन अधिकारियों तथा नागरिकों को रूर से निकाल दिया गया, अधिकृत और अनाधिकृत जर्मन क्षेत्र में भेद किया गया तथा उनके बीच की विभाजक रेखा के आर-पार कोई वस्तु नहीं आने-जाने दी । फ्रांस की कार्रवाई के विरुद्ध जर्मनी के सत्याग्रह का परीक्षण यहाँ तक सफल रहा कि कड़ी सैनिक आज्ञाओं के बावजूद रेलें चलनी बन्द हो गईं । खाने और कारखानें सूने हो गए । फ्रांस ने अपनी सेनाओं द्वारा खानों और कारखानों को चालू करना चाहा, पर उसके लिए जर्मन मशीनों को पूरी दक्षता के साथ चलाना सम्भव नहीं था । इस स्थिति का आभास इस तथ्य से मिलता है कि फ्रांस को 1923 में पहले वर्षों की अपेक्षा केवल चौथाई कोयला ही मिला ।

जर्मनी का प्रतिरोध एवं फ्रांस की जवाबी कार्रवाइयाँ दोनों देशों के लिए अहितकारी एवं महंगी साबित हुईं । रूर में काम छोड़नेवाले मजदूरों, खनिकों, रेलवे कर्मचारियों आदि को वेतन देने की जिम्मेदारी जर्मन सरकार ने अपने ऊपर ले ली थी। इसे उसने बहुत बड़ी संख्या में मुद्रा छापकर पूरा किया। इस समय कई कारणों से मार्क के मूल्य में गिरावट हुई और भीषण महंगाई बढ़ी। जर्मन मुद्रा का किस तेजी से पतन हुआ, इसका अनुमान नीचे लिखे आकड़ों से लगाया जा सकता है-

वर्ष	पौंड की तुलना में मार्क का मूल्य
(i) 1919 (वर्साय संधि की घोषणा के समय)	250
(ii) 1921 (क्षतिपूर्ति घोषणा के समय)	500
(iii) 1923 (फ्रांस द्वारा रूर घाटी पर आक्रमण के समय)	35,000
(iv) दिसम्बर, 1923	16,000,000,000,000

मार्क के सहसा पतन व अवमूल्यन के निम्नलिखित प्रभाव पड़े-

(1) बैंकों में जमा पूंजी का, बॉण्डों और शेयरों का कोई मूल्य न रहा।

(2) वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ गए कि सप्ताह भर की मजदूरी से एक समय का भोजन भी मुश्किल हो गया।

(3) जर्मनी का मध्य वर्ग विशेषकर वे व्यक्ति जिनकी आय के स्रोत निश्चित थे, किराए या व्याज आदि पर निर्भर थे, बरबाद हो गए। उदाहरण के लिए यदि युद्ध से पहले किसी व्यक्ति ने अपनी जिन्दगी भर की बचत 20,000 (1000पौंड) एकत्र कर बैंक में रखी थी तो 1923 में इससे केवल एक डाक टिकट ही खरीदा जा सकता था। समृद्ध मध्यवर्ग की दशा बदतर हो गई। क्लर्कों और अधिकारियों की अपेक्षा श्रमिकों के वेतन का बढ़ती कीमतों के साथ समायोजन अधिक शीघ्रता के साथ कर दिया गया था। अपनी बचत से वंचित हो जाने पर मध्यवर्ग को सर्वहारा की कोटि में आना पड़ा और वर्गच्यूत हो जाने के सभी अपमान सहन करने पड़े। उसे श्रमिक वर्ग से घणा हो गई जिसके स्तर पर उसे आना पड़ा। समय आने पर इस अपमानित मध्यवर्ग ने हिटलर को खुला समर्थन दिया।

(4) उद्योगपति वर्ग को मुद्रा अवमूल्यन का अत्यधिक लाभ हुआ क्योंकि जब उन्होंने ऋण लिए थे और जब वापिस लौटाये, इस बीच मुद्रा का इतनी तेजी से अवमूल्यन होता गया कि उन्हें वास्तव में कुछ भी वापस नहीं करना पड़ा।

(5) जर्मनी द्वारा स्वयं स्वीकार की गई अन्य देशों को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति भी ठप्प पड़ गई। फ्रांसीसी सरकार भी कोयला उठाने में असफल हो गई क्योंकि कोयला की दुलाई पर आने वाला खर्चा कोयले की कीमत से अधिक हो गया।

(6) युद्ध के दौर में जर्मनी ने लोकप्रियता खो दी थी, अब फिर से स्थिति में सुधार आया। यूरोप में जर्मनी के प्रति सहानुभूति व फ्रांस के प्रति असंतोष की भावना का जन्म हुआ विशेषकर इंग्लैण्ड में। अमेरिका में भी जर्मनी के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण बनने लगा।

(7) इसमें सन्देह नहीं है कि मार्क का, प्रारम्भिक हास जिन कारणों-युद्धकाल की आर्थिक गड़बड़ी, प्रशासन-तंत्र का अव्यवस्थित हो जाना और अन्ततः मित्र राष्ट्रों के दावों-से हुआ था, उन पर जर्मन सरकार का कोई बस नहीं था। किंतु, जैसा ई. एच. कार लिखते हैं, एक बार जब यह प्रक्रिया आरम्भ हो गई, तब जर्मन अधिकारियों ने उसे रोकने के सभी प्रयत्न ही छोड़ दिये। अत्यधिक और अनिश्चित क्षतिपूर्ति व कर्ज ने जर्मनी को न केवल अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में बिल्कुल असमर्थ बना दिया, अपितु इस दिशा में कोई भी गम्भीर प्रयत्न करने की उसकी इच्छा को भी पंगु कर दिया, क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति जितनी अच्छी होती, उतना ही उसे भुगतान करना पड़ता। मार्क की इस तेजी से गिरावट को जर्मन अधिकारी भयानक सन्तोष के साथ देखते रहे क्योंकि उनका यह विचार था कि क्षतिपूर्ति वसूल करने की मित्र राष्ट्रों की अन्तिम आशाओं पर ही हास पानी फेरे दे रहा था।

(8) इस आर्थिक संकट का एक तात्कालिक परिणाम यह निकला कि जर्मनी के पूँजीपति वर्ग के लोगों में हृदय परिवर्तन होने लगा। अब ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपने देश को और अपने आपको बचाने के लिए किसी तरह क्षतिपूर्ति की रकम अदा करके रूर क्षेत्र को मुक्त करना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में, ई. एच. कार की टिप्पणी है कि जर्मन जनता

के हृदय परिवर्तन के फलस्वरूप सरकार के लिए क्षतिपूर्ति अदायगी में काफी सहूलियत हो गयी।'

रूर संकट का एक मुख्य परिणाम-मुद्रा के अवमूल्य एवं उसके प्रभावों का विश्लेषण हमने उक्त अध्ययन के दौरान देखा । इसके अतिरिक्त, रूर संकट के कुछ और परिणाम निकले । फ्रांस और ब्रिटेन के सम्बन्धों में अधिक कटुता आ गयी । अब फ्रांस और बेल्जियम को यह समझ में आ गया कि रूर पर अधिकार उनकी भूल थी। अतः वे सम्मानपूर्ण समझौते के लिए तैयार थे । दूसरी ओर, जर्मनी ने भी बदली परिस्थितियों में निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को त्याग दिया और क्षतिपूर्ति की रकम देना स्वीकार कर लिया ।

अब ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, बेल्जियम और इटली इस बात से सहमत हो गए कि अर्थ-विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति नियुक्त की जाए जो इस समस्या का, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करे तथा यह भी सुझाव दे कि किन उपायों के अवलम्बन से जर्मनी की आर्थिक स्थिति को सुधारा जा सकता है । इस निश्चय के तदनन्तर क्षतिपूर्ति आयोग ने 21 दिसम्बर, 1923 को अमेरिकन अर्थ-विशेषज्ञ जनरल डावेस की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की । फ्रांस में पोयनकेर मंत्रिमण्डल का पतन हो गया था । हेरियोट के प्रधानमंत्री बन जाने से क्षतिपूर्ति की समस्या का विवेकपूर्ण समाधान की परिस्थितियां अधिक अनुकूल हो गयी थी ।

कुल मिलाकर उक्त समीक्षा में तीन बातें नये परिवर्तन की पूर्व सूचना के लिए लक्षणीय मानी जा सकती हैं-

(i) जर्मनी में स्ट्रेसमान का विदेश मंत्री के पद पर आसीन होना ।

(ii) फ्रांस को रूर पर जबरन अधिकार से हुई भूल का अहसास । वहाँ की जनता यह अनुभव कर चुकी थी कि रूर पर बलात् अधिकार एक खर्चीली भूल थी और जर्मनी का दिवाला निकलने का मतलब था- 'उत्पाद गारण्टियों' की नीति का भी दिवाला । स्वयं फ्रांस में आर्थिक संकट था । अतः उसे जर्मनी से प्राप्त होने वाली क्षतिपूर्ति रकम का इन्तजार था ।

(iii) डावेस समिति का गठन ।

4.5.4 डावेस योजना

अमेरिकन अर्थ-विशेषज्ञ डावेस की अध्यक्षता में बनाई समिति में अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली तथा बेल्जियम के दो-दो प्रतिनिधि थे । कुछ विशेष अवसरों के लिए जर्मन के स्ट्रेसमान को भी इसमें घुसाया गया । अप्रैल, 1924 को इस समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की । इसमें क्षतिपूर्ति का एक नया रूप तैयार किया गया । जर्मन मुद्रा का पुनर्गठन किया गया तथा ऐसी व्यवस्था की गई जिससे जर्मनी अपने ऊपर लदे कर्जों को आसानी से उतार सके । रिपोर्ट पर विचार करने के लिए जुलाई 1924 में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और बेल्जियम के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए । संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी औपचारिक रूप में अपना प्रतिनिधि भेजा । यद्यपि परिस्थितियां ऐसी न थी कि यह सम्मेलन सफल होता, फिर भी तीन बातें इसके अनुकूल थी- (i) सम्मेलन के पास एक व्यवस्थित

योजना-डावेस योजना थी । (ii) संयुक्त राज्य अमेरिका का सहयोग सम्मेलन को प्राप्त हो रहा था । (iii) सम्मेलन को युद्धकालीन ऋणों की बात नहीं करनी थी । अन्त में, 30 अगस्त, 1924 को सभी ने डावेस योजना को स्वीकार कर मूल मसविदे पर हस्ताक्षर कर दिये और 1 सितम्बर को डावेस योजना को लागू कर दिया गया । डावेस योजना की रिपोर्ट की प्रमुख निम्न सिफारिशें थी-

(i) रूर से विजयी राष्ट्रों की सेना हटा ली जाए ताकि जर्मनी को उस प्रदेश में पुनः राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभुसत्ता प्राप्त हो जाए ।

(ii) जर्मनी में राइख मार्क (रीश मार्क) नामक एक नवीन मुद्रा चलाने का सुझाव दिया गया । इसका संचालन और नियंत्रण सात जर्मन और सात विदेशी अर्थ-विशेषज्ञों के एक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल के अधीन एक केन्द्रीय बैंक को सौंपा जाए । इस बैंक की लागत पूंजी 40 करोड़ स्वर्ण मार्क हो और उसे 50 वर्षों तक नोट छापने का एकाधिकार मिले।

(iii) यह व्यवस्था की गई कि जब जर्मन मुद्रा स्थायित्व प्राप्त करने लगे, तब पांच वर्षों तक प्रतिवर्ष 5 करोड़ पौंड की राशि जर्मनी से क्षतिपूर्ति के भुगतान के रूप में ले ली जायेगी। बाद में यह राशि बढ़ाकर 12 करोड़ 50 लाख पौंड तक पहुँच जायेगी ।

(iv) भविष्य में वार्षिक किश्त की अदायगी को जर्मनी की समृद्धि के सूचकांक के आधार पर घटाया-बढ़ाया जा सकेगा ।

(v) कहीं जर्मनी द्वारा भुगतान की वजह से फिर संकट पैदा न हो जाए, इसलिए यह सुझाया गया कि जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति का भुगतान मार्क में किया जाए और विदेशी मुद्राओं में विनिमय कराने की जिम्मेदारी मित्र-राष्ट्रों की होगी ।

(vi) जर्मनी के सिक्के के मूल्य में स्थिरता प्रदान करने तथा उसकी प्रथम किश्त चुकाने के लिए मित्र राष्ट्र उसको 4 करोड़ पौंड का ऋण दें ।

(vii) जर्मनी अपनी आय के कुछ स्रोत जैसे शराब, तम्बाकू, चीनी, सीमा कर, रेलवे बोर्ड कर, यातायात कर आदि क्षतिपूर्ति की राशि की अदायगी के लिए सुरक्षित रखे ।

(viii) यह भी निश्चित किया गया कि क्षतिपूर्ति आयोग केवल सर्वसम्मति से ही जर्मनी को अपराधी घोषित कर सकता है, ताकि रूर प्रकरण की पुनरावृत्ति न हो सके, जो बहुमत से फ्रांस ने करा लिया था ।

(ix) योजना को शीघ्र कार्यान्वित किया जाए और इसके क्रियान्वयन का भार क्षतिपूर्ति आयोग पर न रहकर, एक विशिष्ट अधिकारी 'एजेन्ट जनरल' की नियुक्ति कर उस पर डाला जाए ।

निःसन्देह डावेस योजना की सिफारिशें जर्मनी के काफी हद तक अनुकूल थी और उसकी अर्थव्यवस्था को मद्देनजर रखकर ही निर्णय लिए गए थे । यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि जर्मनी की अर्थव्यवस्था को पुनः जीवित करने तथा क्षतिपूर्ति की नियमित अदायगी के मामले में डावेस योजना समस्या के समाधान की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था । इस योजना के निम्न गुण थे-

(1) युद्धोत्तर काल के प्रारम्भिक तनाव को दूर करने में डावेस योजना ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लैंगसम ने लिखा है- 'वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर के बाद प्रथम बार यूरोप में कूटनीतिक तनाव कुछ कम हो गया। इसी प्रकार गैथोर्न हार्डी का मानना है- 'लन्दन सम्मेलन एवं डावेस योजना की स्वीकृति से जो अनुकूल वातावरण तैयार हुआ, उसके कारण न केवल मित्र राज्यों एवं जर्मनी वरन् ब्रिटेन और फ्रांस के बीच सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों के काल का सूत्रपात हुआ।

(2) जर्मनी के प्रति एक व्यावहारिक नजरिया अपनाया गया। जर्मनी से उतना ही मांगा व लिया जा रहा था जितना देने में वह सक्षम था। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि भविष्य में भी उसकी अदायगी को उसके सामर्थ्य के साथ जोड़ दिया गया। इस प्रकार क्षतिपूर्ति के दावों एवं प्रहारों से घायल जर्मनी को राहत की सांस लेने का मौका मिल गया। बर्बरतापूर्ण रुख का परित्याग कर उसकी समस्याओं के प्रति पूँजीवादी ही सही पर मानवीय लगने वाला दृष्टिकोण अपनाया गया जिसने एक नये युग का श्रीगणेश किया।

(3) जर्मनी को रकम की अदायगी अपनी मुद्रा में करनी थी। इस प्रकार विदेशी मुद्रा में विनिमय का भार देनदार पर न होकर लेनदार पर छोड़ दिया गया।

(4) जर्मनी के लिए विदेशी ऋण की व्यवस्था, उसकी क्षमता के अनुकूल क्षतिपूर्ति की वार्षिक किश्तों का नियमन, उसकी अदायगी के लिए राजस्व के कुछ स्रोतों को सुरक्षित रखना आदि ऐसी बातें थी जिससे सभी राष्ट्रों को इस समस्या के हल हो जाने की आशा का संचार हुआ।

उक्त गुणों के बावजूद डावेस योजना त्रुटिहीन न थी। इसके दोष निम्न थे-

(1) इसने क्षति की वार्षिक किश्तों की राशि तो तय की परन्तु जर्मनी को कुल कितनी क्षतिपूर्ति चुकानी होगी अथवा ये वार्षिक किश्तें कितने समय तक जारी रहेंगी, इस सम्बन्ध में डावेस योजना मौन थी। इससे आगे चलकर जर्मन जनता में बचत करने का उत्साह जाता रहा क्योंकि उनका मानना था कि जितनी अधिक बचत होगी, उतनी ही मात्रा में देश की समृद्धि का विकास होगा और उसी अनुपात में मित्र राष्ट्रों को दी जाने वाली वार्षिक किश्तों की रकम बढ़ती जायेगी।

(2) इसने जर्मनी को विदेशी ऋण दिए जाने की अविवेकपूर्ण परम्परा को जन्म दिया जिससे आगे चलकर जर्मनी बराबर यही सोचने लगा कि उसकी क्षतिपूर्ति की किश्तें अदा करने के लिए बराबर ऋण मिलता रहेगा। जर्मनी अमेरिका से बिना किसी प्रतिभूति के कर्जा लेता रहा और इस कर्जे में से कुछ भाग मित्र राष्ट्रों को क्षतिपूर्ति के रूप में चुकाता रहा और शेष बचे भाग से चुपचाप अपना औद्योगिक विकास करता रहा। 1924 से 1928 की अवधि में जर्मनी ने क्षतिपूर्ति के खाते में 1003 खरब रीश मार्क जमा करवाए जबकि इसी अवधि में अमेरिका तथा अन्य राष्ट्रों से उसे 1802 खरब रीश मार्क का ऋण लिया था अर्थात् विदेशों से लिए गए ऋण में से उसने क्षतिपूर्ति की किश्तें भी अदा कर दी और लगभग 800 खरब रीशमार्क की धनराशि का सदुपयोग अपने औद्योगिक विकास में किया।

उक्त कुछ दोषों के बावजूद डावेस योजना द्वारा यूरोप के इतिहास में एक नई प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। योजना की सिफारिश के अनुसार जर्मनी को तत्काल विदेशी ऋण मिल गया तथा रूर से विदेशी सेनाएं भी हटा ली गईं। आर्थिक स्थिरता ने राजनीतिक गतिरोध को भी समाप्त कर दिया। सितम्बर 1924 से सितम्बर 1928 की अवधि में जर्मनी नियमित रूप से क्षतिपूर्ति का भी भुगतान करता गया और उसके अपने साधनों पर भारी दबाव भी नहीं पड़ा। उसकी इस सफलता का रहस्य सम्पूर्ण व्यवस्था का प्रबन्ध क्षतिपूर्ति आयोग के स्थान पर आर्थिक विशेषज्ञों की समिति को सौंपना था, जिसने इस समस्या को राजनीतिक दृष्टिकोण से न लेकर आर्थिक दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया था। ई. एच. कार की इस सन्दर्भ में टिप्पणी है कि 'सबसे अच्छी बात इस योजना द्वारा यह हुई कि उसने क्षतिपूर्ति के प्रश्न को राजनीतिक विवाद क्षेत्र से हटा लिया और उसे एक साधारण कर्ज की भाँति माना। समिति ने असंतोषजनक क्षतिपूर्ति आयोग के हाथों से यह सारा मामला हटा लिया तथा यह सुनिश्चित कर दिया कि उसका निबटारा निष्पक्ष, अराजनीतिक दृष्टिकोण से किया जायेगा।'

डावेस समिति की समस्त व्यवस्थाओं के उपरान्त भी जर्मनी की क्षतिपूर्ति की क्षमता में तनिक भी वृद्धि नहीं हुई। उसने अपना जो कुछ पुनर्निर्माण किया था, वह सब विदेशी ऋण की सहायता से किया। ऐसा ऋण जिसको चुकाने की उसने कभी चिन्ता नहीं की। उसे जब तक ऋण मिलता रहा, तब चारों ओर संतोष था। परन्तु ज्यों ही ऋण मिलना बन्द हुआ, जर्मनी ही नहीं वरन् समूचा संसार आर्थिक संकट की लपेट में आ गया। इसके अतिरिक्त, समिति ने जर्मन से बदला लेने और कुचलने की जगह उसे एक ऐसी भेड़ की तरह पालने की योजना बनाई जिसके शरीर पर ऊन उगने का मौका दिया जाना चाहिए। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है डावेस समिति की योजना, क्षतिपूर्ति समस्या की अन्तिम व्यवस्था नहीं थी। यह योजना जर्मन लोगों में व्याप्त निराशा को दूर न कर सकी। यह समाधान तो तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय तनाव एवं राजनीतिक गतिरोध को दूर करने का एक व्यावहारिक उपाय मात्र था।

4.5.5 यंग योजना

डावेस योजना के सफलतापूर्वक कार्यान्वयन के उपरान्त भी क्षतिपूर्ति की समस्या का अन्तिम एवं सम्मानजनक समाधान ही हो पाया था। क्षतिपूर्ति की समस्या में अब मुख्य प्रश्न यही था कि जर्मनी का पूर्ण दायित्व तथा उसके भुगतान की अवधि निश्चित कर दी जाए। फ्रांस भी जर्मनी के साथ अपना अन्तिम हिसाब करने को उत्सुक था ताकि वह अमेरिका को अपना कर्ज चुका सके। जर्मनी भी अपनी देनदारी जानना चाहता था। इसके अलावा वह राइनलैण्ड से मित्र राष्ट्रों की सेना को भी हटाना चाहता था। इंग्लैण्ड शुरु से ही इस समस्या का अन्तिम समाधान करने के पक्ष में था। संयोगवश लोकार्नो समझौते (1925) के हो जाने के बाद यूरोपीय राजनीति में सदभावना का वातावरण पनप रहा था। इस अनुकूल वातावरण में जब जर्मनी ने यह प्रस्ताव रखा कि समूचे प्रश्न पर पुनः विचार किया जाए और जर्मनी की अन्तिम देनदारी निश्चित की जाए, तो उस पर विचार-विमर्श शुरु हुआ। सितम्बर, 1928 में जब राष्ट्रसंघ की सभा का अधिवेशन हो रहा था, इस दौरान फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधियों से मिलकर इस समस्या पर विचार किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्थिक-

विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाए जिसमें उक्त राष्ट्रों सहित अमेरिका भी सम्मिलित हो और यह समिति क्षतिपूर्ति की समस्या को अन्तिम रूप से हल करे। एतदर्थ घोषणा भी कर दी गयी । अमेरिकन वित्त-विशेषज्ञ ओवन डी. यंग की अध्यक्षता में बनाई गई विशेषज्ञों की इस समिति ने 11 फरवरी, 1929 से पेरिस में क्षतिपूर्ति समस्या को सुलझाना शुरू किया । समिति ने लगभग 4 मास के कठिन परिश्रम के पश्चात् अपनी रिपोर्ट 7 जून, 1929 को क्षतिपूर्ति आयोग के सामने रख दी, जो इसके अध्यक्ष के नाम पर 'यंग योजना' कहलायी। यंग योजना ने जो मुख्य व्यवस्थाएँ प्रस्तावित की, वे संक्षेप में निम्नलिखित थी-

(1) जर्मनी की क्षतिपूर्ति की कुल राशि लगभग 9 अरब डालर निश्चित की गई । इस प्रकार, क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा निर्धारित राशि से यह राशी लगभग $\frac{1}{4}$ हो गई ।

उक्त राशि जर्मन को 58½ वर्षों में अदा करनी थी । इस राशि पर जर्मन को 5½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज भी देना था। इस प्रकार व्याज सहित जर्मनी को 26 अरब 35 करोड़ डालर अदा करना था। वार्षिक किश्तें भी निश्चित कर दी गई । अब जर्मनी को प्रथम 37 वर्षों तक लगभग 51 करोड़ डालर प्रतिवर्ष के हिसाब से अदा करना था और बाद के वर्षों में उसे 39 करोड़ डालर प्रतिवर्ष चुकाना था ।

(2) जर्मनी से ली जाने वाली प्रत्येक वार्षिक किश्त को दो भागों में बांटा गया । प्रथम भाग 'अविलम्बीय' के अन्तर्गत प्रत्येक किश्त की एक तिहाई राशि रखी गई और इसके बारे में यह प्रावधान रखा गया कि इस राशि को जर्मनी किसी भी स्थिति में स्थगित नहीं करेगा । दूसरे भाग 'विलम्बनीय' के अन्तर्गत किश्त की शेष दो-तिहाई धनराशि रखी गई और उसके बारे में यह व्यवस्था रखी गई कि यदि जर्मनी की आर्थिक स्थिति किसी भी गम्भीर संकट की शिकार हो जाए अथवा विनिमय का संकट उत्पन्न हो जाए, तो उस स्थिति में जर्मनी इस धनराशि का भुगतान स्थगित कर सकता था, परन्तु स्थगन की अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होगी ।

(3) यह कहा गया कि जर्मनी पर से सभी राजनीतिक और आर्थिक नियन्त्रण समाप्त कर दिये जायें, स्वयं जर्मन सरकार को सभी भुगतानों के लिए उत्तरदायी मान लिया जाए तथा जर्मनी अर्थव्यवस्था को स्वतन्त्र आधार प्रदान किया जाए ।

(4) क्षतिपूर्ति की रकम जमा करने तथा उसे विभिन्न देशों में बांटने के लिए एक 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन बैंक' की स्थापना की जाए । इस बैंक के संचालन का दायित्व एक संचालक मण्डल को सौंपा जाए, जिसमें कर्जदार जर्मनी तथा उसके लेनदारों के प्रतिनिधि रहें ।

(5) राइनलैण्ड से 30 जून, 1930 तक समस्त विदेशी सेना-बल हटा लिया जाए । यंग योजना की व्यवस्थाओं पर विचार करने के लिए अगस्त, 1929 में हेग में एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें फ्रांस, इटली, जापान, ब्रिटेन व उसके उपनिवेशों के प्रतिनिधि आये । सम्मेलन में ब्रिटिश प्रतिनिधि ने 'स्पा सम्मेलन' द्वारा नियत किया गया सबका हिस्सा मांगा । काफी गर्मा-गर्म बहस के बाद बिना किसी वांछित परिणाम के सम्मेलन भंग हो गया ।

तत्पश्चात् 3 जनवरी, 1930 को फिर एक दूसरा सम्मेलन हेग में ही आमंत्रित किया गया । लम्बी बहस के बाद यंग योजना को कुछ संशोधनों के साथ 30 जनवरी, 1930 को स्वीकार कर लिया गया । फ्रांस को सन्तुष्ट रखने के लिए इस सम्मेलन में यह भी निर्णय किया गया कि यदि जर्मनी जान-बूझकर किश्त अदा करने में आनाकानी करेगा तो यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में प्रस्तुत क्रिया जायेगा और न्यायालय द्वारा पक्ष में निर्णय घोषित करने पर मित्र राष्ट्रों को आवश्यक कार्यवाही करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी । 17 मई, 1930 को यह योजना लागू कर दी गई ।

वस्तुतः, यंग योजना ने क्षतिपूर्ति की समस्या का जो हल रखा वह डावेस योजना की तुलना में काफी स्पष्ट और निश्चित था क्योंकि इसमें क्षतिपूर्ति की कुल धनराशि, वार्षिक किश्तों की संख्या एवं प्रतिवर्ष अदा की जाने वाली राशि निर्धारित कर दी गई थी । उसने डावेस योजना की जर्मनी की 'समृद्धि की सूचकांक' पर दी जाने वाली किश्तों की अनिश्चितता को समाप्त कर दिया । क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिए स्वयं जर्मनी को उत्तरदायी बना दिया और इसके लिए जर्मनी को किसी प्रकार की शिकायत न रहे, इस दृष्टि से उस पर लगे सभी प्रकार के नियंत्रण को समाप्त कर जर्मनी को पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई ।

अब यह प्रतीत हो रहा था कि यंग योजना की सफलता असन्दिग्ध है किंतु जर्मनी इस योजना द्वारा निर्धारित राशि को अभी भी अपनी क्षमता से परे मान रहा था । जर्मनी के राज्य बैंक के अध्यक्ष हजल्मार शाख्त ने, जो यंग समिति में वरिष्ठ जर्मन विशेषज्ञ रह चुका था, संसार को यह चेतावनी दी कि योजना की अपेक्षाएं जर्मनी की क्षमता से परे साबित होंगी । किंतु इस भविष्यवाणी पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। फिर भी, सब ठीकठाक रहता किंतु इस बीच विश्व आर्थिक मंदी की चपेट में आ गया । अब जर्मनी को कर्ज मिलना भी बंद हो गया । मंदी और बढ़ती बेरोजगारी ने अदायगी को उसके लिए असम्भव बना दिया ।

4.6 क्षतिपूर्ति समस्या का अन्तिम चरण (1930-32)

अन्तिम चरण में समस्या के समाधान हेतु जो तात्कालिक उपाय हुए, वे भी असफल रहे विश्व अभी भी आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था । इस चरण में हूवर निलंबन प्रस्ताव तात्कालिक समाधान था । लोसान सम्मेलन जर्मनी की आर्थिक थकान को काफी हद तक दूर करने का प्रयास साबित होता किंतु जब बिना कुछ चुकाए ही जर्मनी का काम चल गया तो फिर क्या कुछ अदा करना जरूरी था ? वह भी जर्मनी जैसे स्वाभिमानि व तेजी से प्रगति करने वाले चतुर राष्ट्र के लिए । इस प्रकार, इस चरण में समस्या का अन्त बिना समाधान के ही हो गया और जर्मनी ने क्षतिपूर्ति के भार से मुक्त हो खुली हवा में सांस ली । सही कहा गया कि कई बार काल ही समस्या का निदान ढूंढ निकाल लेता है ।

4.6.1 हूवर निलम्बन अवधि

जर्मनी की बिगड़ती आर्थिक स्थिति को मद्देनजर रखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने 20 जून, 1931 विश्व के सामने यह प्रस्ताव रखा कि अमेरिकी सरकार विदेशी सरकारों से अपनी वसूली एक वर्ष के लिए इस शर्त पर स्थगित रख सकती है कि क्षतिपूर्ति सहित सभी

अन्तर-सरकारी कर्जों की वसूली इसी प्रकार स्थगित की जायेगी । आर्थिक संकट के लिए मित्र-राष्ट्रों के युद्धकालीन ऋणों की जिम्मेदारी की यह अप्रत्यक्ष स्वीकृति बड़े साहस और राजमर्मज्ञता का काम था । राष्ट्रपति हूवर का यह प्रस्ताव 'हूवर निलंबन अवधि' के नाम से जाना जाता है ।

कर्जों की वसूली के स्थगन के हूवर प्रस्ताव का सर्वत्र स्वागत हुआ । हूवर प्रस्तावों का नैतिक प्रभाव इतना अधिक हुआ कि कुछ दिनों तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो विश्वास पूरी तरह लौट आयेगा । फ्रांस को छोड़ सभी ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया । फ्रांस ने इस प्रस्ताव का इसलिए विरोध किया कि उसे जितना युद्ध-ऋण चुकाना था, उससे भी अधिक उसे क्षतिपूर्ति की रकम लेनी थी । फ्रांस के विरोध को शांत करने के लिए सर्वाधिक राजनीतिक दौड़-धूप हुई । अंत में, यह निर्णय हुआ कि जर्मनी यंग योजना द्वारा निर्धारित बिना शर्त वार्षिकियाँ अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक को यथाविधि चुकाए परन्तु वे तुरन्त जर्मन सरकारी रेलवे कम्पनी को ऋण में दे दी जाएं और सम्पूर्ण विलम्बित वार्षिकियों पर ब्याज लगाया जाए । इस प्रकरण में पन्द्रह दिन बेकार ही नष्ट हो गए तथा हूवर प्रस्ताव से उस समय, जो विश्वास उत्पन्न हुआ था, उसके लिए देरी घातक सिद्ध हुई ।

हूवर प्रस्ताव ने क्षतिपूर्ति समस्या को एक वर्ष के अल्पकाल के लिए भले ही स्थगित कर दिया हो, किंतु समस्या तो अभी भी मुँह फाड़े खड़ी थी । बैंकिंग व्यवस्था चरमरा गयी । जर्मनी की आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया। नवम्बर, 1931 में जर्मन सरकार के अनुरोध पर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक ने अर्थ-विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जिसे निलम्बन-अवधि के बाद की क्षतिपूर्ति की किशतों के भुगतान के सम्बन्ध में जर्मनी की स्थिति की जाँच-पड़ताल का काम सौंपा गया । समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि निलम्बन-अवधि के समाप्त हो जाने के बाद भी जर्मनी आगे की क्षतिपूर्ति की किशतें चुकाने की स्थिति में नहीं होगा । समिति की रिपोर्ट के आधार पर जर्मनी के चांसलर ब्रुनिंग ने भी घोषणा कर दी कि प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों से विवश, जर्मनी अभी क्षतिपूर्ति का भुगतान करने की स्थिति में नहीं है ।

4.6.2 लोसान सम्मेलन और क्षतिपूर्ति का अन्त

जर्मन चांसलर ब्रुनिंग की घोषणा से लेनदारों में हलचल शुरू हो गई । अब इस परिवर्तित स्थिति में क्षतिपूर्ति की समस्या पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया । इसके लिए 16 जून, 1932 को लोसान नगर में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया । सम्मेलन में ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और जर्मनी के प्रतिनिधियों में भाग लिया । तीन सप्ताह की बातचीत के बाद सम्मेलन ने यंग योजना को रद्द कर दिया । अब जर्मनी से वसूल की जाने वाली क्षतिपूर्ति की कुल राशि 15 करोड़ पौंड तय कर दी, जो पहले से एक तिहाई रह गई । यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी इस राशि का भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक को एक ही बार में अपने 5 प्रतिशत विमोचक बन्ध पत्रों (बाण्डों) को देकर कर दे ।

दुर्भाग्यवश, लोसान का समझौता भी अर्थहीन व असफल हो गया क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में इस बात की कतई आशा न थी कि कोई राष्ट्र जर्मनी से क्षतिपूर्ति वसूल करने

का पुनः प्रयत्न करेगा । 1932 के बाद वैसे भी जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की कोई रकम मित्र राष्ट्रों को नहीं दी । इसी समय जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष हो रहा था, उसने स्पष्ट घोषणा कर दी कि जर्मनी भविष्य में क्षतिपूर्ति की कोई राशि अदा नहीं करेगा । इस तरह क्षतिपूर्ति के इतिहास और उससे सम्बन्धित आर्थिक थकान का सदैव के लिए अन्त हो गया ।

4.7 क्षतिपूर्ति समस्या की आर्थिक थकान की समीक्षा

क्षतिपूर्ति का प्रश्न शीघ्र ही युद्धोत्तर यूरोप का प्रश्न बन गया । प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद के एक दशक से भी अधिक समय तक क्षतिपूर्ति की आर्थिक थकान ने लेनदार एवं देनदार दोनों पक्षों को व्यथित रखा । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह एक जटिल समस्या थी, जिसके समाधान के प्रयासों में अत्यधिक श्रम का व्यय किया गया। इस दीर्घकालीन समस्या के कुछ पहलू विचारणीय हैं-

(i) जर्मनी से माँगी जाने वाली हर्जाने की राशि निरन्तर कम होती चली गई । 1921 में मित्र राष्ट्र 56.5 अरब डालर वसूल करना चाहते थे, क्षतिपूर्ति आयोग ने इसे 33 अरब डालर निश्चित किया, यंग योजना ने इसे घटाकर 9 अरब डालर ही रहने दिया, लोसान सम्मेलन में यह अदायगी 75 करोड़ डालर ही रह गई और उसके भी वसूल होने की सम्भावनाएँ समाप्त हो गई ।

(ii) जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों को इस सारे समय में 5 अरब 39 करोड़ 62 लाख 50 हजार डालर ही अदा किया। किंतु इस बीच जर्मनी ने संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि देशों से इस राशि का दुगना धन कर्ज लिया था।

(iii) जर्मनी ने 1921 से लेकर 1924 के मध्य केवल डेढ़ वर्ष भुगतान किया, 1924 से 1926 तक प्रतिवर्ष भुगतान किया, 1926 से 1930 की अवधि में कोई भुगतान नहीं किया, 1930 के बाद उसने केवल आधे वर्ष भुगतान किया।

(iv) क्षतिपूर्ति की राशि का निरन्तर कम किया जाना यह स्पष्ट संकेत करता है कि इस विषय में ब्रिटेन का आंकलन यथार्थवादी था जबकि फ्रांस का काल्पनिक।

(v) क्षतिपूर्ति प्राप्त करने वाले देशों को भी क्षतिपूर्ति की इस अधूरी रकम से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि जो कुछ राशि उन्हें प्राप्त होती थी, वे उस राशि को अमेरिका को अपने युद्ध-ऋणों को चुकाने के लिए दे देते थे। युद्ध-ऋणों की किश्तें प्राप्त होने वाली क्षतिपूर्ति की किश्तों से कहीं ज्यादा थी।

क्षतिपूर्ति समस्या ने यूरोप को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। इसके परिणाम और प्रभाव, जो दूरगामी एवं दुर्भाग्यपूर्ण निकले, वे हैं-

(i) ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के सम्बन्धों में मतभेद और मनोमालिन्य में वृद्धि हुई। दोनों देशों के मध्य घृणा और द्वेष का इतना गहरा बीजारोपण हो गया कि उनमें किसी प्रकार के समझौते की सम्भावना ही क्षीण हो गई। दोनों देशों के मध्य बिगड़ते सम्बन्धों के तीन प्रभाव प्रमुख रूप से सामने आए-

(a) दोनों देशों की परस्पर विरोधी नीति के कारण वर्साय की सन्धि को ठीक से लागू नहीं किया जा सका।

(b) फ्रांस का इंग्लैण्ड से विश्वास हट जाने से वह अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित हो उठा। फ्रांस ने अपनी सुरक्षा मजबूत करने के लिए कई देशों के साथ सन्धियाँ कीं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में फिर गुटबन्धियाँ पनपने लगी।

(c) जर्मनी को दोनों देशों के कट्टे सम्बन्धों का अपने लाभ के लिए उपयोग करने का अच्छा अवसर मिल गया। तुष्टीकरण की नीति का जर्मनी ने अपने उत्कर्ष के लिए पूर्ण लाभ उठाया।

(1) ब्रिटेन और फ्रांस ने अपनी स्वार्थ पूर्ति की दृष्टि से क्षतिपूर्ति के प्रश्न को अमेरिका से लिए गए युद्धकालीन ऋणों के साथ सम्बद्ध करके अमेरिका को रुष्ट कर दिया। इससे अमेरिका की पृथक्तावादी नीति को बल मिला।

(2) क्षतिपूर्ति की समस्या ने जर्मनी को कमजोर करने के बजाए मजबूत किया। इस कठिन समस्या का जुझारू रूप से सामना करने के लिए जर्मनी को अमेरिका एवं इंग्लैण्ड से समय-समय पर ऋण प्राप्त हुए, उनका उपयोग जर्मनी ने अपना पुनर्निर्माण करने के लिए किया। परिणामस्वरूप फ्रांस की आशा के विरुद्ध जर्मनी समृद्ध बनता चला गया। सुदृढ़ आर्थिक प्रगति के तहत ही हिटलर एक आक्रामक विस्तारवादी नीति को अपनाने का साहस जुटा पाया था।

(3) क्षतिपूर्ति समस्या ने विश्व व्यापी आर्थिक संकट को बढ़ाने में मदद की।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अत्यधिक और अनिश्चित क्षतिपूर्ति ने जर्मनी को न केवल अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में बिल्कुल असमर्थ बना दिया अपितु इस दिशा में कोई भी गम्भीर प्रयत्न करने की उसकी इच्छा को भी पंगु बना दिया क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति जितनी अच्छी होती, उतना ही उसे अधिक भुगतान करना होगा। इतना ही नहीं, इस समस्या ने मनोमालिन्य, शत्रुता और सन्देह का ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिसकी मूर्खतापूर्ण पूर्णता द्वितीय महासमर की पूर्व संध्या पर दिखाई दी।

4.8 इकाई सारांश

प्रथम महासमर की समाप्ति के पश्चात् महान् वर्साय सम्मेलन में क्षतिपूर्ति का प्रश्न ठीक ढंग से नहीं उठाया गया, यही कारण है कि इस सम्बन्ध में कोई निश्चित राशि निर्धारित नहीं की गई। एक लम्बी बहस एवं कूटनीतिक आदान-प्रदान के पश्चात् क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी से वसूल की जाने वाली राशि निर्धारित की। किंतु जर्मन जनता, जो भूखों मर रही थी और प्रायः हर आवश्यक खनिज पदार्थ की भारी तंगी महसूस कर रही थी, के लिए उस समय यह एक बहुत बड़ी राशि थी, जिसका चुकाना उसके लिए लगभग असंभव था। फ्रांस और बेल्जियम ने रूर पर आक्रमण कर जो एक तरफा कार्रवाई करने का निश्चय किया, उससे जर्मनी को चाहे तात्कालिक बहुत नुकसान हुआ किंतु दीर्घकालीन नहीं। समस्या का समाधान जर्मनी सहित कई देश चाहते थे किंतु दुर्भाग्यवश समस्या के समाधान हेतु जो डावेस योजना, यंग योजना आदि बनीं, वे 'मील का पत्थर' साबित न हो सकी।

निःसन्देह, इस समस्या ने विश्व की आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को अत्यधिक प्रभावित किया। इस समस्या ने जर्मन जनता के असंतोष को इतना प्रबल कर दिया कि वह

हिटलर की अविवेकपूर्ण नीतियों के बहकावे में आ गयी । क्षतिपूर्ति के भूत ने मित्र राष्ट्रों के दिलों में पारस्परिक अविश्वास और मनोमालिन्य के बीज बो दिये, अतः वे नाजी जर्मनी के प्रति ऐसी आत्मघाती तुष्टिकरण की नीति पर आचरण करने लगा जिसने एक तरफ तो राष्ट्रसंघ जैसी शांति स्थापक और गौरवशाली संस्था का असम्मान पूर्वक गला घोट दिया और दूसरी तरफ विश्व को द्वितीय महायुद्ध की ओर धकेल दिया । एक बात और 1930 के पश्चात् उभरी आर्थिक राष्ट्रीयता के सिद्धान्त ने क्षतिपूर्ति एवं ऋण जैसे प्रश्नों को पीछे धकेल दिया । निःसन्देह, जर्मनी को लगभग 14 वर्षों तक परेशान करने वाली आर्थिक थकान हिटलर के उत्थान के साथ ही दूर हो गई किंतु यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जर्मनी के लिए आर्थिक थकान कम और मनोवैज्ञानिक थकान अधिक थी क्योंकि उसे आर्थिक नुकसान कोई विशेष नहीं हुआ अपितु ऋण के रूप में विकसित एवं सम्पन्न राष्ट्रों से उससे अधिक प्राप्त किया । इसी सन्दर्भ में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि लेनदार राष्ट्र भी क्षतिपूर्ति समस्या की आर्थिक थकान से अछूते नहीं रह सके और उन्हें कोई विशेष लाभ भी नहीं हुआ सिवाय इसके कि इन्तजार में अपना समय व्यय किया। सच पूछो, तो यह एक ऐसा प्रकरण साबित हुआ जिसका आरम्भ में आकार विशाल दैत्य स्वरूप था किंतु बाद में काल के मुँह में सिमट कर साधारण मानव से भी लघु हो गया ।

4.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

हिन्दी

- शर्मा, मथुरालाल : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
पन्त, हरगोविन्द : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

अंग्रेजी

- Carr, E.H. : International Relations between the two World wars
Gathorne Hardy, G. M : A Short History on International Affairs.
Johari, J. C. : International Relations and Politics
Keynes : The Economic Consequences
Langsam, W.C. : World Since 1919
Palmer, N.B. & Parkins, H.C. : International Relations
Thomson, David : Europe since Napoleon

इकाई-5

"राष्ट्र संघ और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं व्यवस्था का उत्थान और पतन"

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना- राष्ट्रसंघ की स्थापना की और बढ़ते चरण
- 5.2 राष्ट्रसंघ का संविधान
- 5.3 राष्ट्रसंघ की सदस्यता
- 5.4 राष्ट्रसंघ के अंग
 - 5.4.1 महासभा
 - 5.4.2 परिषद
 - 5.4.3 सचिवालय
 - 5.4.4 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
 - 5.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन
- 5.5 राष्ट्रसंघ के कार्य
 - 1 प्रशासनात्मक कार्य
 - 2 संरक्षण प्रथा सम्बन्धी कार्य
 - 3 अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा
 - 4 आर्थिक, सामाजिक और मानव-कल्याण सम्बन्धी कार्य
 - 5 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य एवं उनकी समीक्षा
- 5.6 राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण
 - 5.6.1 शान्ति सन्धियों से सम्बन्ध
 - 5.6.2 संवैधानिक दुर्बलता
 - 5.6.3 संयुक्त राज्य अमेरिका का असहयोग
 - 5.6.4 राष्ट्रसंघ का सार्वभौम न होना
 - 5.6.5 राष्ट्रसंघ के प्रति सदस्यों के विभिन्न दृष्टिकोण
 - 5.6.6 संघ के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव
 - 5.6.7 विश्वव्यापी आर्थिक संकट
 - 5.6.8 अधिनायकवाद का विकास
- 5.7 राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन
- 5.8 इकाई सारांश
- 5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य राष्ट्रसंघ के उत्थान से जुड़े विभिन्न ऐतिहासिक पक्षों से आपको अवगत कराना है। इस अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं व्यवस्था का संकट काल में छिन्न-भिन्न हो जाना दुखद विषय रहा है-जिसका अध्ययन करना भी इस इकाई का उद्देश्य है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे, कि राष्ट्रसंघ को किन कठिन परिस्थितियों में कार्य करना पड़ा। प्रस्तुत इकाई के अध्ययन में निम्न बातों पर प्रकाश डाला गया है-

- * राष्ट्रसंघ की स्थापना के पूर्व कौन से प्रयास हुए और यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कैसे और कब अस्तित्व में आया।
- * राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंगों की कार्यपद्धति।
- * राष्ट्रसंघ के राजनैतिक एवं गैर राजनैतिक कार्य।
- * वे परिस्थितियां जिनकी वजह से राष्ट्रसंघ पतन की ओर अग्रसर हुआ।
- * राष्ट्रसंघ पर एक विहंगम दृष्टि।

5.1 प्रस्तावना: राष्ट्रसंघ की स्थापना की ओर बढ़ते चरण

शताब्दियों से राष्ट्रों के बीच शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय रहा है। राष्ट्रसंघ की स्थापना के शताब्दियों पूर्व कैथोलिक धर्म के अनुयायियों ने युद्ध और शान्ति के प्रश्नों पर विचार किया था और उनकी समस्याओं के समाधान का प्रयास किया था। 1000 ई. में पोपियर्स की परिषद ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके अनुसार कैथोलिक धर्म के शासकों का यह कर्तव्य माना गया कि वे बलपूर्वक लादे गये युद्धों का विरोध करें। इटली के प्रसिद्ध कवि दांते (1265-1321) ने अपनी रचना 'डी मौनर्विया' में एक 'विश्व राज्य' का विचार रखकर एक सार्वभौम साम्राज्य के निर्माण की कल्पना की। लगभग इसी समय 'पीरे दुबोय्स' ने 'विश्व राज्य मण्डल' के विचार का समर्थन किया। उसने शासकों की एक परिषद् के गठन का विचार रखा। उसकी योजनानुसार शासकों में झगड़े होने की दशा में पोप का निर्णय अन्तिम होगा। उसने अपनी योजना में सैनिक शक्ति की भी व्यवस्था की। आक्रमणकारी राज्य के लिए आर्थिक अवरोध का भी प्रावधान रखा गया। तत्पश्चात् फ्रांस के शासक हेनरी चतुर्थ (1593-1610) ने यूरोप में शान्ति बनाये रखने के लिए यूरोपीय राज्यों का एक संगठन बनाने की 'महान् योजना' बनाई। किन्तु यूरोप के राज्यों का प्रथम महत्वपूर्ण सम्मेलन तीस वर्षीय युद्ध (1618-1648) के पश्चात् ही सम्भव हुआ, जिसके फलस्वरूप वेस्टफिलिया की सन्धि (1648) पर हस्ताक्षर हुए।

तीस वर्षीय युद्ध के दौरान हुई विनाशालीला से लोग विचलित हो गये थे। चिन्तनशील लोगों ने ऐसे नियमों की आवश्यकता को समझा, जिससे स्त्री, बच्चे, वृद्ध एवं निर्दोश लोग युद्ध की विभीषिका से बचाये जा सकें। न्यायोचित एवं न्याय विरुद्ध युद्धों में अन्तर किया जाने लगा। बहुत से चिन्तकों ने युद्ध की अपेक्षा शान्ति को महत्व दिया। ऐसे ही चिन्तकों में महत्वपूर्ण था-गोटियश। डच विचारक गोटियश ने राज्यों के आपसी सम्बन्धों को नियमों पर आधारित बनाये जाने की वकालत की। वह चाहता था कि युद्ध की स्थिति आ ही न पावे और यदि आ भी जावे तो कैसे कम से कम विनाश हो और शान्ति स्थापित हो। उसकी पुस्तक "ला ऑफ

पीस एंड वार एमॉग नेशन्स' अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पहली पुस्तक के रूप में सामने आई । इसीलिए 'ग्रोटियश' को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रवर्तक कहते हैं ।

ग्रोटियश के पश्चात् विलियम पेन नामक एक धर्म प्रचारक ने यूरोप में शान्ति स्थापित करने की एक योजना प्रस्तुत की । उसने एक ऐसी संसद बनाने का विचार रखा जिसमें सभी सम्राट व शासक सदस्य बन सकते थे । इस संसद की एक निश्चित अवधि के बाद बैठकें आयोजित करने का विचार रखा गया जिनमें समय-समय पर उठे विभिन्न देशों के परस्पर झगड़ों का निपटारा होना सुनिश्चित किया गया । उसकी योजना के अनुसार यदि कोई सम्राट संसद के निर्णय के विरुद्ध कार्य करे तो समस्त शासकों का यह कर्तव्य होगा कि उस सम्राट के विरुद्ध कदम उठाएँ और उसे संसद का निर्णय मानने के लिए बाध्य करें । उसने किसी भी देश पर विजय प्राप्त करने को निषेध ठहराया । इसी क्रम में कालान्तर में रूसो, बेन्थम और एमेनुअल कान्ट ने भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा यूरोप में शान्ति बनाए रखने के सुझाव दिये गये। किन्तु तत्कालीन राजनीतिज्ञों ने इन योजनाओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और वे केवल स्वपनिल योजनाएं बनीं रहीं ।

शान्ति बनाए रखने के विभिन्न विचारों के बावजूद युद्धों का क्रम अवरूढ़ नहीं हुआ । फ्रांस के शासकों-लुई चौदहवें, लुई पन्द्रहवें; प्रशा के फ्रेडरिक, रूस की जरीना कैथरीन के समय तो युद्धों का एक सिलसिला सा चल पड़ा, जो नेपोलियन के उद्भव के समय तेजी से बढ़ा । नेपोलियन ने युद्धों के समय यूरोपीय शक्तियों के संगठित रहने की विशेष आवश्यकता अनुभव की । नेपोलियन के पतन के बाद क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों एवं शक्तियों का विरोध कर, यूरोप की यथास्थिति को बनाए रखने की आवश्यकता हुई । इसलिए 'पवित्र संघ' और 'चतुराष्ट्र मैत्री' कायम किये गये । किन्तु ये संगठन भी अपने उद्देश्य में अधिक सफल नहीं हो पाये । फिर भी, ये संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण कदम मानी जाती हैं।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व 1899 ई. एवं 1907 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता को संस्थागत रूप देने के लिए 'हेग' में सम्मेलन हुए जो 'हेग कान्फ्रेंस' के नाम से प्रसिद्ध हुए । अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती न्यायालय की स्थापना इन सम्मेलनों की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है । किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने में ये सम्मेलन भी असफल रहे । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर आगे न बढ़ा जा सका ।

प्रथम महायुद्ध विश्व इतिहास में लड़ा गया ऐसा पहला युद्ध था जिसके दुष्परिणाम अनेक राष्ट्रों के विशाल जन समुदाय को भोगने पड़े । इस युद्ध में जिस स्तर पर विनाश हुआ, उसने बड़े-बड़े राष्ट्रों को हिलाकर रख दिया । 1565 दिन तक चलने वाले इस महायुद्ध में लगभग 6 करोड़ सैनिकों और साधारण नागरिकों ने भाग लिया । इनमें से लगभग एक करोड़ तीस लाख व्यक्ति युद्ध स्थल में मारे गये । लगभग दो करोड़ बीस लाख व्यक्ति घायल हुए, जिनमें से लगभग सत्तर लाख व्यक्ति स्थायी रूप से अपंग हो गये । इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों की, जिनमें, 27 देश थे, सर्वाधिक हानि हुई । युद्ध में मारे गये लोगों में से दो-तिहाई मित्र राष्ट्रों के थे । इसके अतिरिक्त विश्व के अनेक भागों में लोग बीमारी, महामारी और भुखमरी के

शिकार हुए। अनुमान किया जाता है कि इस युद्ध में सभी देशों ने 18,600 करोड़ डॉलर की आहुति दी। इस प्रकार इस युद्ध में जिस विशाल पैमाने पर जन-धन की हानि और बर्बरता का ताण्डव हुआ, उससे एक ऐसी संस्था स्थापित करने की भावना का जन्म हुआ, जो विभिन्न राष्ट्रों में संघर्ष की स्थिति में शान्ति स्थापित कर सके। परन्तु इस प्रकार के संगठन के निर्माण की इच्छा युद्ध के दौरान ही बलवती हो गई थी।

1915 के आरम्भ में कुछ विख्यात अमेरिकनों ने न्यूयॉर्क में 'शान्ति स्थापित करने वाला संघ' (लीग टू एनफोर्स पीस) की स्थापना की। यह कार्य भूतपूर्व राष्ट्रपति ट्रेफ्ट के नेतृत्व में हुआ। इस संस्था का 4 सूत्रीय कार्यक्रम निर्धारित किया गया—(1) वैधानिक प्रश्नों को एक न्यायालय के सम्मुख भेजना चाहिए, (2) अन्य प्रश्नों को जांच और सिफारिश के लिए परिषद् के सम्मुख भेजना चाहिए, (3) यदि कोई राज्य अपने विषय को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के स्थान पर युद्ध करे तो उस राज्य के विरुद्ध आर्थिक और सैनिक शक्ति का प्रयोग होना चाहिए और (4) समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण करने के लिए सम्मेलन बुलाये जाने चाहिए। इस संस्था का इतना प्रभाव बढ़ा कि मई, 1916 में राष्ट्रपति विल्सन से इस संस्था के सम्मुख भाषण दिया। अपने भाषण में विल्सन ने राष्ट्रों के ऐसे संगठन के विचार का समर्थन किया जिसके द्वारा समुद्रों को स्वतंत्र रखा जाए, और सदस्य राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता और राजनैतिक स्वतन्त्रता को अक्षुण्य रखा जाए। पिटमैन बी. पोटर ने इस संस्था को राष्ट्रसंघ की स्थापना में सबसे शक्तिशाली प्रयास माना है।

जैसे-जैसे विश्व युद्ध का ताण्डव-नृत्य अपनी पूर्णता ओर अग्रसर हो रहा था, सरकारी अधिकारियों और राजनीतिज्ञों में इस बात से सहमति बढ़ती गई कि एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा ही विश्व शांति कायम रखी जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए विभिन्न सरकारों ओर से विभिन्न योजनाएं प्रस्तुत की गईं किन्तु राष्ट्रसंघ की स्थापना में सर्वाधिक योगदान संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बुडरो विल्सन का रहा। 22 जनवरी, 1917 को अमेरिकी सीनेट के समक्ष बोलते हुए राष्ट्रपति विल्सन ने 'शान्ति के लिए विश्व संघ' की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। 18 जनवरी, 1918 को बुडरो विल्सन ने अपने प्रसिद्ध 14 सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा की, जिसके 14 वे सूत्र में निश्चित शर्तों के आधार पर सब राष्ट्रों का ऐसा संगठन, जिसके द्वारा छोटे और बड़े राज्यों की राजनैतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारंटी का वचन दिया जाए, बनाने का प्रावधान रखा गया। यह सत्य है कि विल्सन इस बात से पूर्ण सहमत थे कि विश्व शान्ति की दृष्टि से एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित होना चाहिए, तथापि उन्होंने कभी भी इसकी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की। उन्होंने यह नहीं बताया कि राष्ट्रसंघ के संगठन का ढांचा किस प्रकार का होना चाहिए। आर. एस. बेकर ने 'बुडरो विल्सन एण्ड वर्ल्ड सेटिलमेण्ट' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में यह बताया है कि राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा का कोई भी लक्षण उनका स्वयं का विचार नहीं था। विल्सन ने तो मुख्यतः दूसरों के विचारों एवं सुझावों का सम्पादन और उसे व्यवहारिक जामा पहनाने की भूमिका अदा की।

पेरिस में जब शान्ति सम्मेलन आरम्भ हुआ, तब सम्मेलन के समक्ष विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी योजनाएं प्रस्तुत की गईं जो संघ की स्थापना के लिए अब तक बनाई गई थीं। इन प्रारूपों में विल्सन का 20 जनवरी, 1919 का प्रारूप, ब्रिटेन के लार्ड फिलीमोर की रिपोर्ट के आधार पर उप-विदेशमंत्री राबर्ट सिसिल द्वारा तैयार ब्रिटिश प्रारूप आदि प्रारूपों प्रमुख थे। इन प्रारूपों का समन्वित रूप 'हंटर-मिलर' प्रारूप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अन्ततः इस प्रारूप को आधार बनाकर राष्ट्रसंघ का अन्तिम मसविदा तैयार किया गया। इसके सिद्धान्त मूल रूप से अमेरिका की देन थे जबकि कानूनी ढांचा ब्रिटेन द्वारा निर्मित था।

14 फरवरी को विल्सन ने राष्ट्रसंघ के विधान का प्रारूप शान्ति सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन के समक्ष प्रस्तुत किया। विल्सन ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा- "एक सजीव वस्तु का जन्म हो रहा है, यह शान्ति का आश्वासन है। यह आक्रमण के विरुद्ध एक निश्चित आश्वासन है। इस कार्यक्रम के पीछे सशस्त्र शक्ति है, परन्तु यह शक्ति पृष्ठभूमि में है। भौतिक शक्ति का प्रयोग अन्त में ही होगा, क्योंकि हम यहाँ शान्ति के विधान की रचना कर रहे हैं, युद्ध का संगठन नहीं बना रहे हैं हमारी कल्पना केवल यही नहीं है कि यह लीग विश्व-शान्ति की स्थापना करेगी वरन् इससे आगे भी हम सोचते हैं कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मामले में सहयोग के लिए इस लीग का प्रयोग किया जायेगा। फ्रांस, इटली, जापान आदि राज्यों के प्रतिनिधियों ने उसमें कई संशोधित प्रस्ताव रखे। अन्त में 28 अप्रैल को राष्ट्र संघ के विधान को 26 संशोधनों के साथ अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया। विल्सन के आग्रह पर राष्ट्रसंघ की प्रसविदा को शान्ति सम्मेलन की सभी सन्धियों का अंग बनाया गया। 10 जनवरी, 1920 को राष्ट्रसंघ को व्यवहार में कार्यान्वित किया गया।

5.2 राष्ट्रसंघ का संविधान

राष्ट्रसंघ के संविधान को समझौते का नाम दिया गया है। 19 प्रतिनिधियों के सम्मेलन में इसका संविधान बनाया गया था। विल्सन सम्मेलन का अध्यक्ष था। राष्ट्रसंघ की रूपरेखा का प्रतिपादन विल्सन ने किया था किन्तु उसके विधान का कानूनी ढांचा ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने बनाया था। राष्ट्रसंघ का समझौता या संविदा चार हजार शब्दों का था। राष्ट्रसंघ के समझौते में भूमिका के अतिरिक्त 26 धारार्यें थीं। भूमिका में इसके उद्देश्य, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की प्राप्ति, भविष्य में युद्धों को असम्भव बनाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सहिष्णुता को बढ़ावा देना बताये गये। राष्ट्रसंघ की प्रस्तावना में संघ के उद्देश्यों की घोषणा करते हुए कहा गया है कि- 'समझौता करने वाले उच्च पक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिए, उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं तथा युद्ध के प्रति आस्था न रख, राष्ट्रसंघ के मध्य स्पष्ट, उचित व आदरणीय सम्बन्धों की स्थापना करके, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के समझौतों की सरकारों के व्यवहार के उचित नियमों के रूप में दृढ़तापूर्वक स्थापना करके, संगठित जातियों के, पारस्परिक व्यवहार में संधि के सम्पूर्ण दायित्वों के लिए न्याय व सावधानी युक्त सत्कार रखकर राष्ट्रसंघ के इस संविदा से सहमत होते हैं।'

संविदा में उल्लिखित भूमिका से स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ के प्रमुख चार उद्देश्य थे-(1) युद्ध रोकना, (2) शान्ति को संगठित रखना, (3) पेरिस शान्ति सम्मेलन द्वारा निर्धारित कुछ विशिष्ट कर्तव्यों का पालन करवाना और (4) संसार के सभी राष्ट्रों के मध्य भौतिक एवं मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना ।

संविदा की प्रथम सात धाराओं में संघ की सदस्यता के नियमों और संघ के विभिन्न अंगों का वर्णन किया गया है । इसकी आठवीं और नवीं धारा निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित थी । 10 वीं 16 वीं धारा तक विभिन्न झगड़ों के शान्तिपूर्ण निर्णय, आक्रमणों को रोकने और सामूहिक सुरक्षा बनाये रखने के उपायों का प्रतिपादन किया गया था । 10 वीं, 12 वीं, और 16 वीं धारा काफी महत्वपूर्ण थी 10 वीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों की प्रादेशिक एकता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान करते हैं । किसी भी वाह्य आक्रमण के समय से उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे । 12 वी धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इस बात पर सहमत हैं कि यदि उनके मध्य कोई झगड़ा खड़ा हो जाए, जिसका कि परिणाम युद्ध हो सकता है तो वे इस विवाद के सम्बन्ध में पंचों द्वारा उसका निर्णय करायेंगे अथवा निर्णय के लिए कौंसिल के पास भेजेंगे वे तब तक युद्ध प्रारम्भ नहीं करेंगे, जब तक कि निर्णय को तीन महीने व्यतीत न हो गये हों । 16 वीं धारा के अनुसार यदि राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य समझौते की उपेक्षा करके युद्ध प्रारम्भ करता है तो वह राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों के विरुद्ध करने वाला कार्य समझा जायेगा । राष्ट्रसंघ अन्य सदस्यों को आक्रान्ता देश के साथ सभी प्रकार के आर्थिक और वैयक्तिक सम्बन्ध तोड़ने के लिए बाध्य कर सकता था । ऐसी स्थिति में यह व्यवस्था थी कि परिषद संघ के सदस्यों से यह सिफारिश करे कि वे संविदा की व्यवस्था बनाये रखने हेतु प्रभावकारी सैनिक, नौसैनिक और वायु सेना शक्ति का प्रयोग करे । संविदा की धारा 18 वीं से 21 वीं तक की धाराओं में संधियों की रजिस्ट्री, प्रकाशन, संशोधन और वैधता का उल्लेख था । धारा 22 में संरक्षण प्रथा या मैन्डेट का उल्लेख था । धारा 23 में संघ सदस्यों द्वारा श्रमिक कल्याण, बाल कल्याण, रोगों पर नियंत्रण, नारी व्यापार निषेध आदि के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों पर बल दिया गया था । धारा 24 में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सम्बन्धों का वर्णन किया गया था । धारा 25 रेडक्रॉस संगठन को प्रोत्साहन देने से सम्बन्धित थी । अन्तिम धारा 26 में राष्ट्रसंघ के समझौते में संशोधन करने की प्रक्रिया समाविष्ट थी ।

5.3 राष्ट्रसंघ की सदस्यता

राष्ट्रसंघ के संविधान में महायुद्ध में विजयी देशों, उपनिवेशों या स्वशासित प्रदेशों को सदस्य बनाने का अधिकार प्राप्त था । उदाहरण के लिए भारत इंग्लैण्ड का उपनिवेश होते हुए भी इसका सदस्य था । इसके समझौते पर सर्वप्रथम हस्ताक्षर करने वाले 16 देशों को इसका सदस्य बना लिया गया । राष्ट्रसंघ की महासभा के दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से किसी भी नये देश को इसका सदस्य बनाया जा सकता था । परिषद की सर्वसम्मति से कोई भी राष्ट्र इसकी सदस्यता से वंचित किया जा सकता था । जो देश स्वेच्छा से इसकी सदस्यता छोड़ना चाहता था उसे दो वर्ष का नोटिस देना आवश्यक था । राष्ट्रसंघ में कभी भी समस्त

महाशक्तियाँ सम्मिलित न हो सकी । अमेरिका, जो इसका जन्मदाता था, इसका कभी सदस्य नहीं हुआ । प्रारम्भ में जर्मनी को इसका सदस्य नहीं बनाया गया । किन्तु अन्त में 1926 ई. को उसको इसका सदस्य बनाया गया, किन्तु 1933 में उसने इसे छोड़ने की सूचना दे दी । सोवियत रूस 1933 ई. में इसका सदस्य बना, किन्तु परिषद् ने उसे 1940 में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण संघ से निष्कासित कर दिया । जापान ने 1933 में तथा इटली ने 1937 में राष्ट्रसंघ छोड़ दिया । इस प्रकार राष्ट्रसंघ के सदस्यों की संख्या घटती-बढ़ती रही । 1935 ई. में इसके सदस्यों की संख्या 63 तक पहुँच गई थी, जो सर्वाधिक थी। अप्रैल, 1936 में यह संख्या घटकर 43 ही रह गई और इसमें भी केवल 34 राज्यों के प्रतिनिधि बैठक में सम्मिलित हुए ।

5.4 राष्ट्रसंघ के अंग

राष्ट्रसंघ के तीन प्रधान अंग थे-(1) महासभा अथवा साधारण सभा (असेम्बली), (2) परिषद् (कौंसिल) (3) सचिवालय (सेक्रेटरियट) । इनके अतिरिक्त दो स्वायत्त अंग थे-अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ।

5.4.1 महासभा

राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों की सम्मिलित सभा ही महासभा कहलाती थी। इसमें सभी देशों को समान अधिकार प्राप्त थे । प्रत्येक सदस्य राज्य अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि भेज सकता था । लेकिन प्रत्येक राज्य को एक ही मत देने का अधिकार था । महासभा का अधिवेशन प्रतिवर्ष सितम्बर माह में जेनेवा नगर में होता था । वार्षिक अधिवेशन के अतिरिक्त असाधारण अधिवेशन बुलाने की भी व्यवस्था थी । राष्ट्रसंघ के संविधान के अनुसार महासभा अपने कार्याधिकारियों को अपने आप चुनती थी और इस सम्बन्ध में नियम भी बनाती थी यह प्रतिवर्ष अधिवेशन के लिए एक अध्यक्ष और आठ उपाध्यक्षों का निर्वाचन करती थी विभिन्न कार्यों के लिये छः विषय समितियाँ-वैधानिक और कानून समिति, तकनीकी समिति, निरस्त्रीकरण समिति, बजट और अर्थ समिति, सामाजिक संस्था समिति, और राजनैतिक समिति-स्थायी रूप से बनी हुई थी । इनके अतिरिक्त अन्य विशिष्ट समस्याओं के लिए समितियाँ बनाने के लिए महासभा स्वतंत्र थी। महासभा में मतदान की चार पद्धतियाँ थी । कुछ विषयों पर निर्णय सर्वसम्मति से होते हैं, कुछ पर साधारण बहुमत से प्रस्ताव पारित हो सकते हैं, कुछ विषयों पर निर्णय के लिए दो-तिहाई बहुमत की तो किसी के लिए पूर्ण बहुमत की आवश्यकता होती थी ।

महासभा का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। राष्ट्रसंघ के क्षेत्राधिकार में आने वाले किसी भी विषय पर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को प्रभावित करने वाले किसी भी विषय पर महासभा विचार कर सकती थी। मोटे तौर पर इसके तीन कार्यक्षेत्र थे-निर्वाचन सम्बन्धी, अंगीभूत सम्बन्धी और परामर्श सम्बन्धी। निर्वाचन सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत कई कार्य शामिल थे-(1) दो-तिहाई मतों से नये सदस्यों का चुनाव; (2) साधारण बहुमत द्वारा नौ अस्थायी सदस्यों में से तीन को सभा के लिए प्रतिवर्ष चुनना; (3) प्रति नौ वर्ष के लिए स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिए पन्द्रह न्यायाधीशों का निर्वाचन और (4) परिषद् द्वारा नियुक्त

राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति की पुष्टि। अंगीभूत कार्यों के अन्तर्गत महासभा संविदा के नियमों में संशोधन कर सकती थी, परन्तु ऐसे संशोधन परिषद की सर्वसम्मति से स्वीकृत होना आवश्यक थे। साथ ही यह देखना था कि वे प्रभावित देशों की रुचि के अनुरूप हो। परामर्श सम्बन्धी कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत महासभा अन्तर्राष्ट्रीय हितों से संबंधित किसी विषय पर विचार कर सकती थी और परिषद् को अपना परामर्श भेज सकती थी। वार्षिक बजट तैयार करना भी इसी का कार्य था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि महासभा का कार्य प्रस्तावों पर वाद-विवाद, नीतियों की आलोचना, नये सदस्यों का निर्वाचन आदि करना था।

संगठनात्मक दृष्टि से महासभा की स्थिति परिषद से गौण थी। इस सभा द्वारा परित प्रस्ताव परिषद के लिए सुझाव मात्र होते थे। यह परिषद् की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह साधारण सभा के प्रस्तावों को स्वीकार करे या नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर महासभा में केवल औपचारिक चर्चा ही की जा सकती थी। इसलिए यह कहा जाता है कि महासभा अपने सीमित अधिकारों के कारण सम्भाषण का केन्द्र बनकर रह गयी थी। इस सबके बावजूद महासभा विश्व की समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों की भावनाओं को अभिव्यक्त करने में सहायक सिद्ध हुई।

विधान द्वारा सभा को परिषद् से कम अधिकार इसलिए मिले थे कि विधान निर्माता उसे कार्यकारिणी का रूप नहीं देना चाहते थे क्योंकि प्रथम तो यह एक बहुत बड़ी संस्था और दूसरा इसका अधिवेशन भी वर्ष में एक बार होता था।

5.4.2 परिषद

यह राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग था। परिषद् राष्ट्रसंघ की कार्यकारिणी समिति थी और यह महासभा से अधिक शक्तिशाली संस्था थी। राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते थे लेकिन परिषद् की सदस्यता सीमित थी। परिषद् की सदस्यता का आधार समानता के सिद्धान्त पर आधारित न होकर महाशक्तियों की उच्चता पर निर्भर था। विधान के अनुसार इसमें पांच स्थायी और चार अस्थायी सदस्य होते थे। स्थाई सदस्य पांच बड़े मित्र राष्ट्र थे- ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका। अमेरिका के संघ से अलग रहने के कारण स्थायी सदस्यों की संख्या चार ही रह गई। 1926 ई. में जर्मनी को पांचवा और 1934 ई. में रूस को छठा स्थान प्राप्त हुआ। महासभा अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन प्रति तीन वर्ष के लिए करती थी अस्थायी सदस्यों का चुनाव भौगोलिक, जातीय, आर्थिक और सांस्कृतिक संतुलन के आधार पर साधारण-सभा (महासभा) द्वारा किया जाता था। प्रारम्भ में चार अस्थायी सदस्यों का प्रावधान था लेकिन 1936 ई. तक इनकी संख्या 11 हो गयी।

परिषद् आरम्भ से ही एक निर्णायक शक्तिशाली संस्था थी। परिषद् के निर्णय प्रायः निर्विरोध होते थे। केवल नीति-विषयक मामलों, अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित धाराओं के संशोधन, संघ के सदस्य राष्ट्रों के आपसी विवादों के सिफारिश सम्बन्धी मामलों में परिषद् बहुमत से निर्णय ले सकती थी। संयुक्त राष्ट्र की भांति राष्ट्रसंघ के स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार (वीटो) प्राप्त नहीं था। परिषद की अध्यक्षता, परिषद के सदस्यों में से, प्रति सम्मलेन, सदस्यों की फ्रेंच नामावली के क्रमानुसार बदलती रहती थी। स्थायी और अस्थायी

सभी सदस्यों को मताधिकार प्राप्त था । केवल उस सदस्य देश का मत नहीं गिना जाता था, जो स्वयं उस विवाद से जुड़ा हुआ हो और जिसका निर्णय परिषद को लेना हो । परिषद एक वर्ष में तीन-चार बैठकें करती थी । परन्तु विशेष समस्या उपस्थित होने पर किसी भी समय अपनी बैठक बुला सकती थी ।

महासभा की भांति परिषद का कार्यक्षेत्र असीमित था । यह विश्व-शान्ति से सम्बन्धित किसी भी समस्या पर विचार कर निर्णय ले सकती थी । इसका सर्वाधिक मुख्य कार्य विवादों को निपटाना तथा सभा के निर्णयों को कार्यान्वित करना था । महासचिव को मनोनीत करना, मुख्यालय का स्थान परिवर्तन, निःशस्त्रीकरण, आक्रमणकारी को दण्डित करने अल्पसंख्यक जातियों सम्बन्धी विषय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्यों का निर्वाचन; न्यायालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, सार घाटी का प्रशासन एवं डेन्जिंग का शासन प्रबन्ध, संरक्षण प्रथा के अन्तर्गत आने वाले उपनिवेशों का प्रशासन, राष्ट्रसंघ के अन्य छोटे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त करना आदि प्रमुख कार्य परिषद् को स्वतंत्र रूप से या महासभा के सहयोग से करने होते थे ।

इसकी बैठकों में सदस्य राज्य अधिकांशतः अपने प्रधानमंत्री या विदेशमंत्री भेजते थे । इस प्रकार विभिन्न देशों को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था । फलतः पारस्परिक बातचीत से झगड़ों को सुलझाने का क्रम आरम्भ हुआ ।

5.4.3 सचिवालय

सचिवालय राष्ट्रसंघ का स्थायी प्रशासनिक अंग था । इसका मुख्यालय जेनेवा में था । इसे राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक उपयोगी और सबसे कम विवादास्पद अंग कहकर पुकारा गया है । सचिवालय का प्रधान महासचिव कहलाता था महासचिव का काम राष्ट्रसंघ के प्रशासन की देखभाल करना था । इसके अधीन दो उप-महासचिव, दो अवर-सचिव और लगभग छः सौ कर्मचारी कार्य करते थे । महासचिव की नियुक्ति परिषद् द्वारा साधारण सभा की अनुमति से होती थी । ब्रिटेन के जेम्स एरिक ड्रमन्ड इसके प्रथम महासचिव थे, जिन्होंने 1920 से 1933 तक पदभार सम्भाला था ।

सचिवालय का कार्य अनेक प्रकार की सेवाएँ प्रदान करके संघ के सभी अंगों की सहायता करना था । यह महासभा और परिषद् के विचाराधीन विषयों की सूची तैयार करता था । बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखता था, विविध विषयों के मसौदे तैयार करता था, संधियों को पूंजीबद्ध करता था और इसी प्रकार के अन्य प्रशासनिक कार्य करता था । सचिवालय को निर्णय की नही वरन् किर्यान्वयन की जिम्मेदारी सौंपी गई थी लेकिन व्यवहार में निरन्तर कार्यरत रहने और अलग-अलग देशों के लोगों को एक साथ काम करने का मौका देने के कारण इसका बहुत महत्व था ।

सचिवालय की कार्य प्रणाली की प्रशंसा करते हुए प्रो. भूरे ने लिखा है कि "सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सर्वोत्कृष्ट नमूना था तथा राष्ट्रसंघ का उद्देश्य यदि इस सहयोग में वृद्धि करना था, तो निश्चय ही सचिवालय एक बड़ी सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति करता था ।"

5.4.4 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

हेग में अन्तर्राष्ट्रीय मध्यस्थता की शुरुआत हुई थी, इसे ध्यान में रखकर 1921 ई. में राष्ट्रसंघ के विधान की 14 वीं धारा के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई थी। इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति व्यक्तिगत प्रतिभा और प्रसिद्धि के आधार पर होती थी, किसी देश के प्रतिनिधि के रूप में नहीं। इसके सदस्य वे देश भी हो सकते थे, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य न हों। इसमें विभिन्न देशों के ग्यारह न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। किन्तु 1931 ई. में न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गयी। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति नौ वर्षों के लिए साधारण सभा द्वारा की जाती थी। उन्हीं न्यायाधीशों में से तीन वर्ष के लिए मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था।

यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्याख्या कर उसी के आधार पर विभिन्न देशों के मध्य विवादास्पद मामलों पर अपने निर्णय देता था, ताकि विवादों को विस्फोटक होने से पहले ही सुलझा लिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय मानने के लिए सदस्य देश बाध्य नहीं थे, इसलिए इस संस्था का महत्व गिरता गया। परन्तु इस प्रकार के न्यायालय की स्थापना समय की पुकार थी।

5.4.5 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के लिए इस संगठन की स्थापना की गयी थी। इस संगठन का मुख्यालय भी जेनेवा में था। इसकी सदस्यता उनके लिए भी खुली थी, जो राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। प्रत्येक देश चार प्रतिनिधि भेजता था, दो सरकारी, एक पूँजीपतियों का और एक मजदूर वर्ग का। इस संगठन का मुख्य कार्य श्रमिक पुरुषों, स्त्रियों और बालकों के लिए उचित एवं मानवीय परिस्थितियाँ स्थापित करने में सहयोग देना था। इस संगठन के कार्यों में श्रमिकों के काम के घण्टों का निर्धारण, उचित पारिश्रमिक, श्रमिक रोजगार-कार्यालय की स्थापना, श्रमिकों के स्वास्थ्य की जांच, उनके बच्चों की शिक्षा, उनके मनोरंजन एवं निवास की स्थापना, दुर्घटना एवं अंग-भंग मुआवजा आदि कार्य उल्लेखनीय थे। प्रत्येक वार्षिक सम्मेलन में पारित हुए प्रस्ताव सदस्य देशों को भेज दिये जाते थे। परन्तु इन्हें मानने और लागू करने की अनिवार्यता नहीं थी।

5.5 राष्ट्रसंघ के कार्य

राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्य शान्ति बनाए रखना और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि करना था। अपने इस मूल कार्य की पूर्ति में जो विभिन्न कार्य उसे करने पड़ते थे, वे निम्न प्रकार थे- (1) प्रशासनात्मक कार्य, (2) संरक्षण प्रथा (मैंडेट) सम्बन्धी कार्य, (3) अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी कार्य, (4) आर्थिक, सामाजिक और मानव-कल्याण सम्बन्धी कार्य और (5) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य।

5.5.1 प्रशासनात्मक कार्य

राष्ट्रसंघ वर्साय की सन्धि की उपज थी और उससे यह आशा की गयी थी कि यह शान्ति सन्धियों के क्रियान्वयन में सहयोग देगा। राष्ट्रसंघ पर संधियों को लागू करने की जिम्मेदारी थी इतना ही नहीं, सन्धियों के सामान्य प्रशासन के अतिरिक्त भी राष्ट्रसंघ को सारघाटी और डेंजिग के प्रशासन की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। वर्साय सन्धि द्वारा राष्ट्रसंघ को सार बेसिन पर 15 वर्षों तक शासन करने का अधिकार मिला। ऐसा निर्णय फ्रांस को खुश करने के लिए किया गया था। शर्तों के अनुसार परिषद् द्वारा नियुक्त 5 सदस्यों के कमीशन को उक्त क्षेत्र पर शासन करने का अधिकार था। 1935 ई. में राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में वहां जनमत-संग्रह किया गया। परन्तु यह जनमत तनावपूर्ण वातावरण में हुआ क्योंकि पिछले 15 वर्षों में वहां की जर्मन जनता को काफी कष्ट भोगने पड़े थे तथा जर्मनी में तानाशाह हिटलर का उदय हो चुका था। जनमत के संग्रह के निर्णय के आधार पर 1 मार्च, 1935 को राष्ट्रसंघ ने सार का प्रशासन जर्मनी को सौंप कर अपने एक दायित्व से मुक्ति पायी।

बाल्टिक सागर के तट पर स्थित डेन्जिग एक जर्मन बाहुल्य प्रदेश था, परन्तु पौलेण्ड को सन्तुष्ट करने हेतु उसे भी जर्मनी से पृथक राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक स्वतंत्र नगर बना दिया गया और उसके प्रशासन हेतु एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की गयी। डेन्जिग को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वशासन प्रदान किया गया किन्तु उसकी आर्थिक रूपरेखा पौलेण्ड को सौंपी गयी और उसके विदेशी सम्बन्धों के संचालक का अधिकार भी पौलेण्ड को दिया गया। इस व्यवस्था के कारण यहां के पोल तथा जर्मन नागरिकों में हमेशा तनाव बना रहा। डेन्जिग बन्दरगाह का नियंत्रण पौलेण्ड के हाथ में था, अतः डेन्जिग नगर और बन्दरगाह के बीच कई प्रकार के झगड़े उठे। डेन्जिग के प्रशासन में राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिली और 1939 ई. में डेन्जिग और पोलिश गलियारे की समस्या को लेकर द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया।

5.5.2 संरक्षण प्रथा सम्बन्धी कार्य

संरक्षण प्रथा को मेंडेट सिस्टम, समादेश प्रथा, अधिदेश पद्धति आदि नामों से पुकारा जाता है। संरक्षण प्रथा की संज्ञा उस प्रणाली को दी गई थी जो कि प्रथम महायुद्ध के अन्त में ही टर्की और जर्मनी से लिये गये उपनिवेशों का कल्याण एवं विकास सभ्य देशों के संरक्षण में करने के स्वीकार की गयी थी और अन्त में जिसे, राष्ट्रसंघ के विधान की धारा 22 में शामिल कर लिया गया था। इस योजना को सुझाने वाला दक्षिणी अफ्रीका का जनरल स्मट्स था। राष्ट्र संघ के विधान के अनुसार "उन उपनिवेशों और क्षेत्रों पर जो गत युद्ध के फलस्वरूप उन राज्यों की राज्य सत्ता से निकल गये हैं जिनका उन पर प्रभुत्व था तथा जिनमें ऐसे लोग बसते हैं जो आधुनिक संसार की जटिल परिस्थितियों के बीच आत्मनिर्भर होकर नहीं जी सकते हैं, यह सिद्धान्त लागू किया जाये कि ऐसे लोगों का कल्याण व विकास सभ्य देशों का पवित्र कर्तव्य है। इस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे लोगों का संरक्षण उन समुन्नत देशों को सौंपा जाये जो इस जिम्मेदारी को सबसे अच्छी तरह निभा सकते हैं तथा इस संरक्षण-अधिकार का उपयोग ये राष्ट्र, राष्ट्रसंघ की ओर से संरक्षण राज्य के बतौर करेंगे।"

राष्ट्रसंघ को, जो प्रदेश और उपनिवेश प्राप्त हुए, उनके प्रशासन का अधिकार विभिन्न सदस्य राष्ट्रों को ही सौंपा गया जिन्हें संरक्षक राज्य की संज्ञा दी गयी । ये संरक्षक राज्य राष्ट्रसंघ के परिषद् को भेजते थे । राष्ट्रसंघ का स्थायी संरक्षण आयोग इन रिपोर्टों की जांच करता था, याचिकाएं सुनता था और परिषद् को आवश्यक सिफारिशें प्रस्तुत करता था ।

संरक्षित देशों की तीन श्रेणियां थी । प्रथम श्रेणी के उपनिवेशों को, जिनमें राजनीतिक विकास हो चुका था, शीघ्र ही स्वतंत्र कर देने की बात तय की गई । ऐसे देशों में फिलिस्तीन, ईराक, सीरिया, लेबनान तथा ट्रान्स जोर्डन के प्रदेश थे । सीरिया व लेबनान फ्रांस के तथा फिलिस्तीन, ईराक एवं ट्रान्स जोर्डन के ग्रेट ब्रिटेन के संरक्षण में रखे गये । दूसरी श्रेणी में मध्य अफ्रीका के जर्मन उपनिवेश थे, जहां स्वायत्त शासन के विकास में समय लगने वाला था । इस श्रेणी में कैमरून, टोगालैण्ड तथा जर्मन पूर्वी अफ्रीका के भू-भाग इंग्लैण्ड व बेल्जियम को सौंप दिये गये । तीसरी श्रेणी में कम जनसंख्या वाले अत्यधिक पिछड़े प्रदेश थे जिनको प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए संरक्षित देशों को पर्याप्त समय लगना था । इस श्रेणी के क्षेत्रों का विभाजन इस प्रकार किया गया-जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका दक्षिण अफ्रीकन संघ को, जर्मन सेमोआ न्यूजीलैण्ड को, नारुद्वीप इंग्लैण्ड को, विषवत् रेखा के दक्षिण में स्थित अन्य जर्मन द्वीप जापान को दिये गये ।

इस नई पद्धति में कानूनन उपनिवेशों की स्वतंत्रता का हनन नहीं हुआ और विजित देशों का स्वार्थ भी पूर्ण हो गया किन्तु व्यवहार में यह व्यवस्था साम्राज्यवाद का ही नवीन रूप सिद्ध हुई । संरक्षक राज्यों ने संरक्षित प्रदेशों का शासन अपने हितों की रक्षा के उद्देश्य से किया । उन्होंने संरक्षित प्रदेशों का शोषण किया और अपनी महत्वाकांक्षाओं को साकार करने के लिए दमन चक्र चलाया । यह आशा निराशा में ही परिणत हुई कि संरक्षक देश अभिभावक के रूप में संरक्षित राज्य की दशा सुधारने तथा स्वशासन की प्रवृत्ति को विकसित करने का प्रयास करेंगे । संरक्षण व्यवस्था इस दृष्टि से भी एक पक्षीय सिद्ध हुई कि इसे विजेताओं द्वारा पराजित राष्ट्रों से छीने गये प्रदेशों पर ही लागू किया गया था, विजेताओं ने अपने उपनिवेशों को इस व्यवस्था से सर्वथा स्वतंत्र रखा । केनथ इनग्राम ने 'ईयर्स ऑफ क्राइसिस' में लिखा है कि "शान्ति समझौते के अन्तर्गत संरक्षण प्रणाली एक ऐसा समझौता थी जो साम्राज्यवादी व्यवस्था के लक्षण अपनाये रखने के लिए कारण युद्ध के एक प्रधान कारण का अन्त करने में असफल रही ।" कुल मिलाकर यह व्यवस्था इतने स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी लक्षणों से जुड़ी हुई थी कि उसने राष्ट्रसंघ को बदनाम करके ही छोड़ा । फिर भी, इस व्यवस्था ने विश्व व्यवस्था सम्बन्धी एक नवीन दृष्टिकोण की स्थापना की । 'मेण्डेल्स अण्डर द लीग ऑफ नेशन्स' में क्विन्सी राइट इस पद्धति का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं कि "यह पद्धति पिछड़े हुए क्षेत्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित करने की दिशा में एक साहसिक प्रयोग अवश्य थी ।" इतिहासकार लैंगसम ने 'द वर्ल्ड सिंस 1914' में संरक्षण प्रणाली के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया कि "यह संरक्षण प्रणाली, जनमत का ध्यान उचित औपनिवेशिक प्रशासन की ओर खींच कर बड़ी मूल्यवान सिद्ध हो गयी थी, और इसने सीधे-सीधे प्रशासन हाथ में लेने के स्थान पर न्यास के रूप में सम्भालने से विश्व राजनीति की भावना के प्रति अधिक उत्तरदायीपूर्ण ढंग से रास्ता खोल दिया

" इस प्रकार उसने इतिहास में पहली बार संरक्षण के सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्रदान की । 1946 ई में द्वितीय महासमर के बाद संरक्षण प्रणाली का अन्त करके संयुक्त राष्ट्रसंघ में ट्रस्टीशिप की पद्धति शुरू की गयी ।

5.5.3 अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद मित्र राष्ट्रों के सम्मुख अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का प्रश्न एक अहम सवाल था । यूरोप के विभिन्न राज्यों में बसने वाले लगभग तीन करोड़ अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का कार्य राष्ट्रसंघ को सौंपा गया । किन्तु यह कार्य आसान नहीं था क्योंकि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान आत्मनिर्णय का सिद्धान्त इतना प्रचारित हुआ कि अल्पसंख्यकों को ढेर सारी आशायें बंध चली थी । पूर्वी यूरोप में अल्पसंख्यकों का वितरण इतना असमान था कि चेक, सर्ब, यूनानी, मग्यार आदि जातियां कहीं बहुमत में और कहीं अल्पमत में थी । ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रसंघ और विविध राज्यों के बीच समझौता किया गया । इस समझौते में निर्धारित मुख्य उद्देश्य अग्रलिखित थे-(1) अल्पसंख्यकों के जीवन और उनकी स्वतंत्रता की रक्षा की व्यवस्था करना, (2) उनके धर्म एवं विचारों का आदर करना, (3) उनके नागरिक अधिकारों की रक्षा करना, (4) विधि के समक्ष समान व्यवहार, (5) सबको समान सुविधाएं और नौकरी के समान अवसर प्रदान करना, (6) अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा में शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करना, (7) अदालतों और धार्मिक मामलों में अपनी-अपनी भाषा के इस्तेमाल की छूट । इन लक्ष्यों की पूर्ति की जिम्मेदारी राष्ट्रसंघ की अल्पसंख्यक समिति की थी । इस सम्बन्ध में, कोई भी मामला सीधे परिषद् या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में उठाया जा सकता था । परन्तु उल्लंघनकर्ताओं के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया जा सकता था । सारे यूरोप में अल्पसंख्यक यंत्रणा का शिकार हो रहे थे, परन्तु राष्ट्रसंघ आश्वासनों के अतिरिक्त कुछ विशेष नहीं कर पा रहा था ।

5.5.4 आर्थिक, सामाजिक और मानव कल्याण सम्बन्धी कार्य

राष्ट्रसंघ ने केवल शान्ति स्थापना, शस्त्रों के निर्माण एवं युद्धों की सम्भावनाओं को रोकने तथा अल्पसंख्यकों को संरक्षण देकर उनकी प्रगति के लिए अवसर प्रदान करने जैसे कार्य ही नहीं किए, उसने, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सहयोग को बढ़ावा देकर आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान और मानव कल्याण सम्बन्धी कार्य भी किये । राष्ट्रसंघ ने आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों के पुनर्निर्माण में योग दिया । विश्व के सभी राष्ट्रों को स्वस्थ आर्थिक नीतियां अपनाने को प्रेरित किया, ताकि महायुद्ध से विध्वंसित संसार का पुनर्निर्माण किया जा सके । उसके प्रयासों के, फलस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय सहायता संघ अस्तित्व में आया, जिसने संकटग्रस्त देशों को अनेक बार आर्थिक सहायता प्रदान की । ऑस्ट्रिया, हंगरी, यूनान और बुल्गेरिया को राष्ट्रसंघ ने समय-समय पर ऋण दिलवाया । डेन्जिग के आर्थिक पुनर्निर्माण में राष्ट्रसंघ बड़ा सिद्ध हुआ ।

सम्भवतः मानव इतिहास में पहली बार खाद्यान्न और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं, बीमारियों की रोकथाम, शरणार्थियों के लिए जीविकोपार्जन तथा शिक्षा एवं संस्कृति के विकास द्वारा जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का लक्ष्य निर्धारित करते हुए मानव कल्याण का बीड़ा उठाया

गया । इस हेतु बहुत से आयोगों और समितियों का गठन, विशेषज्ञों का आदान-प्रदान उच्च कोटि के साहित्य का प्रकाशन आदि किया गया । राष्ट्रसंघ की संविदा की 23 वीं धारा में कहा गया था कि संघ के सदस्य बीमारियों को रोकने एवं उन्हें नियंत्रित करने के विषय में आवश्यक कदम उठाने की चेष्टा करेंगे । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1923 में स्थायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना की गयी । इस संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा जन-स्वास्थ्य की सुरक्षा को बढ़ावा देना था ।" इस संगठन ने संक्रामक रोगों के निवारण, अफ्रीका के निद्रा-रोग का अध्ययन, यूनान और चीन जैसे देशों को स्वास्थ्य सेवाएं, मलेरिया रोग के निराकरण आदि क्षेत्रों में कार्य किया । राष्ट्रसंघ ने अफीम और कोकीन जैसी मादक वस्तुओं के व्यापार रोकने की तरफ भी विशेष ध्यान दिया । शरणार्थियों को बसाने में राष्ट्रसंघ ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । इस काम के लिए राष्ट्रसंघ ने एक पृथक आयोग की स्थापना की, जिसका अध्यक्ष डॉ. नानसेन को बनाया । आयोग ने यूनान, बुल्गेरिया आदि देशों के शरणार्थियों के पुनर्वास में सहयोग दिया । बाल विकास, नारी कल्याण एवं वेश्यावृत्ति पर अंकुश लगाने की दिशा में भी राष्ट्रसंघ की सेवाएं सराहनीय रही । दास-प्रथा और बेगारी दूर करने के लिए राष्ट्रसंघ ने कई कदम उठाये । लीबिया, इथोपिया, नेपाल, बर्मा, आदि देशों ने दासता को समाप्त करने के प्रश्न पर संघ ने बड़ी तत्परता से कार्य किया ।

राष्ट्रसंघ ने बौद्धिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति स्थापित की जिसके प्रमुख कार्य ये थे-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन, शिक्षा सम्बन्धी सूचना एकत्र करना, स्मारकों एवं कलाकृतियों की सुरक्षा, राष्ट्रसंघ के विषय में युवकों को प्रशिक्षण, प्रौढ़ एवं श्रमिकों की शिक्षा की व्यवस्था, नाटक, संगीत एवं काव्य के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को सहयोग आदि ।

5.5.5 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य एवं उनकी समीक्षा

राष्ट्रसंघ का महत्वपूर्ण कार्य शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना था । संघ के विधान में युद्धों को रोकने के लिए कई व्यवस्थायें की गई थी: (अ) प्रसंविदा की धारा 10 के अनुसार संघ के सदस्यों ने मिलकर बाह्य आक्रमणों से संघ के सभी सदस्य राज्यों की वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता एवं प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करने का वचन दिया । (ब) संघ के विधान में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिए कुछ प्रक्रियाओं का प्रावधान किया गया । 11 वीं धारा के अनुसार संघ के किसी भी सदस्य के विरुद्ध युद्ध की आशंका को राष्ट्रसंघ के लिए चिन्तनीय विषय घोषित किया गया और संघ को रोकने के लिए उचित कदम उठाने का अधिकार दिया गया । इसी धारा के अनुसार प्रत्येक सदस्य को, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तनाव की ऐसी स्थिति में, जिससे शान्ति भंग होने की आशंका हो सभा या परिषद का ध्यान आकर्षित करने का अधिकार दिया गया । प्रसंविदा की 12वीं, 13वीं, और 15 वीं धाराओं में, सदस्य राज्यों के ऐसे पारस्परिक विवादों को जिनके कारण सम्बन्ध विच्छेद होने की आशंका हो, शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के उपायों का उल्लेख किया गया । (स) किसी भी सदस्य राज्य द्वारा अपने दायित्वों का उल्लंघन करके युद्ध आरम्भ करने की स्थिति में, उसके विरुद्ध आर्थिक

प्रतिबन्धों एवं सैनिक कार्यवाही प्रयोग करने का प्रावधान किया गया । 16 वीं धारा के अनुसार, "यदि कोई राज्य अपने दायित्वों की अवहेलना करके युद्ध आरम्भ करता है तो इस बात से समझा जायेगा कि उसने संघ के सभी सदस्यों के विरुद्ध युद्ध किया है, और सभी राज्य तुरन्त ही आक्रामक राज्य से अपने व्यापारिक एवं वित्तीय सम्बन्धों को समाप्त कर देंगे । इसी प्रकार के प्रतिबन्ध आक्रामक राज्य के नागरिकों के विरुद्ध भी लगने की व्यवस्था थी । इसी धारा में यह भी व्यवस्था थी कि यदि अग्रधर्मी राज्य केवल आर्थिक प्रतिबन्ध से युद्ध बन्द करने को तैयार न हो तो परिषद् उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की सिफारिश कर सकती थी और सदस्य राज्यों से सैनिक सहायता लेने पर विचार-विमर्श कर सकती थी । (द) शान्ति को बनाए रखने के लिए शस्त्रास्त्रों को घटाने और निःशस्त्रीकरण करने की भी व्यवस्था की गयी थी । प्रसविदा की 8 वीं धारा में शान्ति बनाए रखने के लिए राज्यों के शस्त्रीकरण को कम करने पर बल दिया और उसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य परिषद् को सौंपा गया ।

शान्ति स्थापना के क्षेत्र में राष्ट्रसंघ के 20 वर्षों के जीवनकाल में 46 से अधिक विवाद उसके समक्ष प्रस्तुत किये गये और उनमें से कुछ मामलों को निपटाने में राष्ट्रसंघ की परिषद् को सफलता भी मिली । यह स्मरण रहे कि राष्ट्रसंघ ऐसे विवादों को सुलझाने में सफल रहा जो छोटे देशों के बीच उत्पन्न हुए थे । यह दृष्टव्य है कि जिस किसी मामले में कोई बड़ी शक्ति उलझ गयी या जो मामले दो या दो से अधिक बड़ी ताकतों के बीच थे, उनमें राष्ट्रसंघ को सफलता नहीं मिली । बड़ी शक्तियों ने साधारणतः उसके निर्णय की अवज्ञा ही की । संघ को निम्नलिखित विवादों में सफलता मिली-

1. राष्ट्रसंघ ने अल्बानिया को स्वतंत्र राज्य घोषित कर अपना सदस्य बना लिया था । इसके बावजूद 1921 में युगोस्लाविया ने सीमा विवाद के बहाने अल्बानिया पर आक्रमण कर दिया । राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप पर युगोस्लाविया को सेनाएं हटानी पड़ी ।

2. 1921 में आलैंड द्वीप समूह से स्वामित्व के प्रश्न को लेकर फिनलैंड और स्वीडन में विवाद उठ खड़ा हुआ । राष्ट्रसंघ ने फिनलैंड के पक्ष में निर्णय देकर विवाद समाप्त किया ।

3. 1923 में हंगरी और रूमानिया के बीच सीमा सम्बन्धी विवाद को राष्ट्रसंघ ने सफलतापूर्वक निबटाया ।

4. साइलेशिया पर अधिकार करने के प्रश्न को लेकर जर्मनी और पोलैंड में उठ खड़े विवाद का राष्ट्रसंघ ने समाधान किया । साइलेशिया का विभाजन कर एक भाग जर्मनी को तथा दूसरा पोलैंड को सौंप दिया ।

5. 1919 से ही पोलैंड और चेकोस्लावाकिया के पारस्परिक सम्बन्ध तनावपूर्ण थे । इसी समय सीमावर्ती जिप्स क्षेत्र में स्थित जावोर्जिना के विषय में दोनों राज्यों में विवाद आरम्भ हो गया । राजदूतों की समिति विवाद को सुलझाने में सफल नहीं हो सकी, अतः उसने उसे राष्ट्रसंघ के समक्ष रखा । राष्ट्रसंघ ने इस मामले के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सम्मति प्राप्त करने के पश्चात् एक सीमा आयोग नियुक्त किया । आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1914 में दोनों राज्यों की सीमा निर्धारित की गयी ।

6. वर्साय सन्धि के अनुसार मेमल का प्रदेश पौलेण्ड को मिला था । परन्तु 1923 में लिथुआनिया की फौजें मेल में प्रवेश कर गईं और वहां एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर दी । राष्ट्रसंघ के सम्मुख समस्या के उपस्थित होने पर उसने मेमल के बन्दरगाह को छोड़कर शेष सम्पूर्ण मेमल क्षेत्र का स्वामी लिथुआनिया को माना, किन्तु साथ ही मेमलवासियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता मिली और मेमल बन्दरगाह पर शासन करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड की स्थापना हुई ।

7. 1924 में राष्ट्रसंघ के सम्मुख मौसुल विवाद आया । मौसुल के समृद्ध तेल क्षेत्र पर तुर्की, ईराक और ब्रिटेन अपना अधिकार करना चाहते थे । संघ ने जाँच पड़ताल के बाद मौसुल का अधिकांश क्षेत्र ईराक को दिलवाया । लेकिन तुर्की ने आरम्भ में ही इस फैसले को मानने से इन्कार कर दिया । अन्त में, जब इंग्लैण्ड ने तुर्की को कुछ सुविधाएं प्रदान की, तब तुर्की ने इस फैसले को कबूल किया ।

8. 1925 में यूनान एवं बुल्गेरिया के बीच सीमा विवाद इस हद तक पहुँच गया कि यूनान ने बुल्गेरिया पर आक्रमण कर उसके एक प्रदेश पर अधिकार कर लिया । राष्ट्रसंघ ने यूनान को आक्रामक बताकर सेनाएं हटाने एवं मुआवजा देने का निर्देश दिया । उसने सेना हटा ली एवं क्षतिपूर्ति की रकम भी चुका दी ।

9. दक्षिण अमेरिका में ब्रिटिश कोलम्बिया और पीरू की सीमा पर लौटेशिया का बन्दरगाह था, जिस पर कोलम्बिया का अधिकार था, परन्तु पीरू ने 1932 में उस पर अधिकार कर लिया । राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप करके उसे कोलम्बिया को लौटा दिया ।

10. अब, हम उन प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को लेते हैं, जिनके न्यायपूर्ण समाधान में राष्ट्रसंघ असफल रहा । उसकी असफलताओं का मुख्य कारण यह था कि इन विवादों में या तो किसी एक पक्ष को महाशक्ति का समर्थन प्राप्त था अथवा कोई न कोई महाशक्ति स्वयं ही दूसरा पक्ष थी ।

1. 1921 में लिथुआनिया अधिकृत विलना नगर को लेकर पौलेण्ड और लिथुआनिया में विवाद हो गया क्योंकि दोनों के मध्य स्थित होने के कारण इस नगर पर पौलेण्ड ने अधिकार कर लिया । राष्ट्रसंघ ने दो वर्ष से भी अधिक समय तक झगड़े को सुलझाने का प्रयत्न किया । परन्तु राष्ट्रसंघ न तो लिथुआनिया को न्याय दिला सका और न दोनों पक्षों में समझौता करा सका । विलना पर पौलेण्ड का अधिकार इस लिए बना रहा क्योंकि महाशक्तियां पौलेण्ड के पक्ष में थीं।

2. 1923 में कोर्फु विवाद उत्पन्न हुआ, जो यूनान व इटली के मध्य था । इस विवाद का जन्म यूनानी प्रदेश में यूनान, अल्बानिया की सीमा का निर्णय करने वाले कमीशन के इटालियन प्रतिनिधियों की कुछ उपद्रवी यूनानियों द्वारा हत्या किये जाने से हुआ था । इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने यूनान को क्षमा मांगने तथा हर्जाने को भारी धनराशि जमा करने को कहा । यूनान ने स्वयं इस मामले को संघ के सामने रखा तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय मानने व न्यायालय के पास हर्जाने की राशि जमा कराने की बात कही । इटली ने यूनान के इस उदार रवैये की परवाह न करते हुए, यूनानी प्रदेश पर बम बरसाये और यूनान के कोर्फु नामक टापू पर अधिकार कर लिया । इटली के जोर देने पर राष्ट्रसंघ ने यह मामला राजदूतों की समिति

को सौंप दिया । राजदूतों की समिति ने जो निर्णय दिया, उसके आधार पर यूनान को इटली से माफी मांगनी पड़ी, इटली को यूनान से क्षतिपूर्ति प्राप्त हुई, यद्यपि कोर्फू यूनान को पुनः प्राप्त हुआ । इस घटना से यह जाहिर हो गया कि यूनान को निर्बल होने का दण्ड मिला है। यद्यपि इटली ने कोर्फू पर बम वर्षा करके यूनान को क्षति पहुँचायी थी ।

3. 1928 ई. में दक्षिण अमेरिका के दो राज्यों-बोलीविया और पेरग्वे, जो कि संघ के सदस्य भी थे, के मध्य स्थित 11,600 वर्ग मील के 'चाको' क्षेत्र के विषय में युद्ध छिड़ गया । पेरग्वे ने चाको प्राप्त के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया । यह मामला राष्ट्रसंघ के सामने लाया गया । संघ ने विचार-विमर्श के उपरान्त घटनास्थल पर एक आयोग भेजा । परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ । नवम्बर, 1934 में संघ ने फिर कई सुझाव दोनों राष्ट्रों को भेजे । बोलीविया ने तो इन सुझावों को स्वीकार कर लिया परन्तु पेरग्वे ने इन सुझावों को अस्वीकार कर दिया । इस पर राष्ट्रसंघ सभा ने बोलीविया पर से आयुध-अधिरोध और पेरग्वे के विरुद्ध उसे जारी रखने का निर्णय किया । इससे क्रुद्ध होकर पेरग्वे ने राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र दे दिया । इसके पश्चात् राष्ट्रसंघ ने इस मामले में कुछ नहीं किया । 1938 में संयुक्त राज्य अमेरिका और दक्षिण अमेरिकी राज्यों के प्रयत्नों से ही दोनों पक्षों में सन्धि सम्पन्न हो सकी । इस प्रकार इस विवाद में भी राष्ट्रसंघ असफल सिद्ध हुआ ।

4. 1931 में उत्पन्न मंचूरिया संकट का समाधान करने में राष्ट्रसंघ बुरी तरह असफल रहा । 1931 ई में जापान ने चीन पर यह आरोप लगाकर कि उसने दक्षिण मंचूरिया में जापानी रेल सम्पत्ति को हानि पहुँचायी है, मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया । चीन द्वारा राष्ट्रसंघ में अपील करने पर उसने स्थिति के अध्ययन के लिए लिटन आयोग को मंचूरिया भेजा । आयोग के मंचूरिया पहुँचने से पहले ही जापान ने वहाँ कटपुतली सरकार की स्थापना कर दी । आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जापान को आक्रामक घोषित करने का प्रस्ताव पास किया । परन्तु प्रस्तावों के माध्यम से संघ चीन को मंचूरिया वापस नहीं दिला सका । जापान ने मंचूरिया से सेनाएं हटाने के स्थान पर 1933 ई में राष्ट्रसंघ की कमजोरी को जगजाहिर कर दिया ।

5. इटली ने जापान का अनुसरण करते हुए, दिसम्बर, 1934 में राष्ट्रसंघ के सदस्य ईथोपिया (अबीसीनिया) पर आक्रमण कर दिया । ईथोपिया के सम्राट हेलसिलासी ने राष्ट्रसंघ में अपील की । परिषद् ने इटली के इस आरोप का खण्डन किया कि ईथोपिया आक्रामक है। साधारण सभा ने सदस्यों को इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने को कहा, किन्तु ये प्रतिबन्ध सफल न हुए । ब्रिटेन और फ्रांस राष्ट्रसंघ के भीतर रहते हुए कूटनीतिक दाँव-पेंचों से इटली की सहायता करने में लगे रहे । बड़े देशों के लिए एक अफ्रीकी देश की स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं था । 1936 ई में इटली की सेनाओं ने ईथोपिया को तेजी से जीतना शुरू कर दिया और एक मई को ईथोपिया की राजधानी आदिसअबाबा पर इटली का कब्जा हो गया और नौ मई को इटली के शासक को ईथोपिया का सम्राट घोषित कर दिया ।

30 जून को राष्ट्रसंघ की साधारण सभा की बैठक शुरू हुई । भाग कर आये हुए ईथोपिया सम्राट हेलसिलासी ने सहायता की अपील की । किन्तु सोवियत प्रतिनिधि को छोड़कर किसी ने उसका समर्थन नहीं किया । इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध भी सिद्धान्त

रूप में मध्य जुलाई तक हटा लिये गये । इस प्रकार ईथोपिया की सभी मांगों को ठुकराते हुए सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को तिलान्जलि दे दी गयी और ईथोपिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया गया । इस दुःखद अध्याय की समाप्ति यही नहीं हुई वरन् इटली ने ईथोपिया के राष्ट्रसंघ के सदस्य बने रहने के विरोध में संघ का बहिष्कार भी किया । ब्रिटेन और फ्रांस के प्रयास से असहाय ईथोपिया राष्ट्रसंघ से बाहर निकाल दिया गया । इतना ही नहीं इन दोनों राष्ट्रों ने इटली की ईथोपिया विजय को मान्यता दे दी ।

इस सम्पूर्ण प्रकरण से यह स्पष्ट है कि इटली के समस्त अनैतिक कार्य राष्ट्रसंघ के समक्ष होते रहे, परन्तु संघ चुप रहा । राष्ट्रसंघ ने अपने इतिहास में पहली बार युद्ध रोकने के लिए विधान की 16 वीं धारा के अनुसार आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये थे । लेकिन इन प्रतिबन्धों का कड़ाई से पालन कराने में संघ असफल रहा । राष्ट्रसंघ ने बड़ी शक्तियों के हाथ का खिलौना बनकर स्वयं को दुर्भाग्य की ओर धकेल दिया । इतिहासकार रैमजे म्योर के अनुसार, ' ईथोपिया पर आक्रमण राष्ट्रसंघ की क्षमता की अग्नि-परीक्षा थी, जिसमें वह बुरी तरह असफल रहा । "इस सम्बन्ध में जी. पी. गुन की टिप्पणी भी दृष्टव्य है, "अपने 16 वर्षों के कार्यकाल में राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा कभी इतनी नीचे नहीं गिरी थी जितनी कि 1936 के ग्रीष्मकाल में, जबकि ईथोपिया के सम्राट को अपने देश से भागना पड़ा और इटली की सेना ने ईथोपिया में प्रवेश किया। ऐसा प्रतीत होना था जैसे कि राष्ट्रसंघ के खण्डहरों पर फासीवाद का साम्राज्य स्थापित हो गया हो।"

6. स्पेन के गृह-युद्ध (1936-39) के मामले में राष्ट्रसंघ बुरी तरह विफल रहा। जनरल फ्रांको के नेतृत्व में प्रतिक्रियावादी तत्वों ने स्पेन की गणतंत्रीय सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर दिया, जिससे स्पेन में गृह-युद्ध शुरू हो गया। हिटलर तथा मुसोलिनी ने फ्रांको की खुले तौर पर सहायता की। जब गणतंत्रीय सरकार ने राष्ट्रसंघ से सहायता की मांग की तो संघ ने तटस्थता की नीति अपनायी। परिणामस्वरूप स्पेन की गणतंत्रीय सरकार का पतन हो गया। संघ के प्रमुख सदस्य राज्यों ने फ्रांको की सरकार को मान्यता देकर राष्ट्रसंघ की घोर उपेक्षा की। स्पेन के गृह-युद्ध में, जिसमें प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से यूरोप के कई देश शामिल थे, राष्ट्रसंघ महज दर्शक बना रहा।

7. पेरिस शान्ति समझौते की व्यवस्था बनाये रखना, राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य था। किन्तु हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने वर्साय सन्धि की धाराओं को एक के बाद एक भंग करना प्रारम्भ कर दिया-(1) 1933 में उसने राष्ट्रसंघ छोड़ने का नोटिस दे दिया, (2)1935 में उसने सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी, (3)1936 में जर्मनी ने राइन को अपने अधिकार में कर लिया, (4) आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का बहाना बनाकर 1938 में ऑस्ट्रिया को हड़प लिया, (5) जर्मनी ने 1938 में चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया, (6) अन्ततोगत्वा सितम्बर, 1939 में हिटलर ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया, जिससे द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया। इस प्रकार राष्ट्रसंघ हिटलर की महत्वाकांक्षा को रोकने में असफल रहा।

8. 1937 में जापान द्वारा चीन पर आक्रमण होने की स्थिति में राष्ट्रसंघ पंगु बना रहा। जुलाई, 1937 में चीन और जापान की मुठभेड़ पीविंग के निकट लुकोचियाओ नामक स्थान पर हो गयी। इसी घटना को लेकर जापान ने चीन की सरकार के समक्ष कुछ मांगे रखी, जिन्हें चीन ने अस्वीकार कर दिया। सितम्बर, 1937 में चीन ने 10वीं, 11वीं, और 17वीं धारा के अर्न्तगत जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की प्रार्थना की, तब भी वह मूकदर्शक बना रहा। इस समय चीन के प्रतिनिधि वेलिंगटन ने सत्य ही कहा था, "राष्ट्रसंघ मिश्र की ममी की भांति सभी भोग एवं ऐश्वर्य के साधनों के सम्पन्न होता हुआ भी निर्जीव हो चुका था।"

9. 1939 के अन्त में सोवियत रूस ने फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ से सहायता की मांग की। राष्ट्रसंघ ने सोवियत रूस को राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर दिया, परन्तु फिनलैण्ड को बचाने की कोई कार्यवाही न की। 1940 के आरम्भ में फिनलैण्ड पर रूस का अधिकार हो गया।

5.6 राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

राष्ट्रसंघ का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए, भविष्य में युद्धों को असम्भव बनाने आदि उद्देश्यों से हुआ था। परन्तु राष्ट्रसंघ अपने इन उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहा। 1939 ई. के आस-पास राष्ट्रसंघ एक मिश्र की ममी की तरह एक निर्जीव संगठन बन गया था। जब द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ और संयुक्त राष्ट्रसंघ का गठन करने का प्रश्न उठा तो 19 अप्रैल, 1946 को राष्ट्रसंघ का विधिवत दफन कर दिया गया। प्रश्न उठता है कि राष्ट्रसंघ क्यों असफल रहा-

5.6.1 शान्ति सन्धियों के सम्बन्ध

राष्ट्रसंघ की 26 धाराओं को व्यर्थ में पेरिस सम्मेलन की वर्साय सन्धि सहित अन्य सन्धियों के साथ जोड़ दिया गया, यह कार्य इस संगठन के लिए भविष्य में दुर्बलता का कारण बना। पराजित राष्ट्रों को जो अपमानजनक सन्धियां करनी पड़ी थी, वे उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे। विभिन्न शान्ति सन्धियों के साथ जुड़े होने के कारण राष्ट्रसंघ को एक 'चरित्रहीन माँ की बदनाम पुत्री' कहा जाता है, क्योंकि युद्ध में पराजित होने वाले देश राष्ट्रसंघ को शान्ति संधियों द्वारा थोपी गयी व्यवस्थाओं का संरक्षक मानते थे और इसे विजेता राष्ट्रों की स्वार्थ सिद्धि मानते थे। इन सबके बावजूद यदि राष्ट्रसंघ ने शांति संधियों में संशोधन की नीतियों का अवलम्बन किया होता तो राष्ट्रसंघ की एक बड़ी कमजोरी दूर हो सकती थी। यदि प्रसंविदा के 19 वें अनुच्छेद का प्रयोग किया जाता तो स्थिति गम्भीर न होती। जी पी. गच ने इस अनुच्छेद को भाप के दबाव को दूर करने वाला 'सेफ्टी वाल्व' कहा है। किन्तु दुर्भाग्यवश इस अनुच्छेद का उपयोग नहीं किया गया। यदि ऐसा होता तो पराजित राष्ट्र कुछ हद तक सन्तुष्ट हो जाते और द्वितीय विश्व-युद्ध की सम्भावना कम हो जाती।

5.6.2 संवैधानिक दुर्बलता

राष्ट्रसंघ संवैधानिक रूप से दुर्बल था-

(1) राष्ट्रसंघ के सदस्य उसकी सिफारिशों को मानने के लिए बाध्य नहीं थे, उन पर केवल नैतिक बंधन था ।

(2) किसी भी राज्य को अपराधी घोषित करने का निर्णय परिषद् द्वारा सर्वसम्मति से करना पड़ता था, किन्तु इसमें राष्ट्रों के आपसी स्वार्थ टकराते थे । इसलिये सर्वसम्मति निर्णय कर पाना कठिन था ।

(3) संघ की कार्यप्रणाली जटिल थी । किसी समस्या को बहुत लम्बा खींचा जा सकता था या स्थगित किया जा सकता था ।

(4) संघ के संविधान में युद्ध का पूर्ण निषेध नहीं किया गया था । केवल आक्रामक-युद्धों को अवैध घोषित किया गया था, जबकि रक्षात्मक युद्ध को वैध माना गया था । यह बताना आसान नहीं था कि आक्रामक कौन है । प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रीय सुरक्षा की आड़ में युद्ध पर उतारू हो जाता था ।

(5) राष्ट्रसंघ के पास अपने निर्णय लागू करने के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य-तब नहीं था । किसी आक्रान्त-राष्ट्र के खिलाफ सैनिक कार्यवाही करने के लिए राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों से परिषद् सहायता मांग सकती थी । परन्तु सहायता देने या न देने का निर्णय सहायता देने वाले राष्ट्र की इच्छा पर निर्भर था ।

(6) राष्ट्रसंघ के पास स्थायी और स्वतन्त्र आय के साधन नहीं थे, जिसके कारण उसे सदैव आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता था ।

5.6.3 संयुक्त राज्य अमेरिका का असहयोग

राष्ट्रसंघ का यह दुर्भाग्य था कि उसका निर्माता-राष्ट्र अमेरिका ही उसका सदस्य न बन सका । अमेरिका जैसी महाशक्ति की पृथकता से राष्ट्रसंघ की नींव कमजोर रह गयी । गेथोर्न हार्डी के शब्दों में, "एक बालक (राष्ट्रसंघ) को यूरोप के दरवाजे पर अनाथ की भांति छोड़ दिया गया ।" अमेरिका द्वारा राष्ट्रसंघ का सदस्य न बनने के कारण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रसंघ के अस्तित्व पर कुप्रभाव पड़ा, उदाहरणार्थ-(1) राष्ट्रसंघ का संविधान मानने के लिए अमेरिका बाध्य नहीं था । यदि किसी राज्य पर राष्ट्रसंघ प्रतिबंध लगाता था तो वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति अमेरिका से कर सकता था । (2) अमेरिका के पृथक हो जाने पर फ्रांस और ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ की आदर्शवादी परम्पराओं के स्थान पर संकीर्ण एवं स्वार्थपूर्ण नीतियों को प्रश्रय देना आरम्भ कर दिया, जिससे विश्व की राजनीति पर कुप्रभाव पड़े बिना न रह सका । (3) अमेरिका जैसे देश के सदस्य नहीं बनने से यह संगठन सार्वभौमिक संगठन का रूप धारण नहीं कर सका । (4) अमेरिका द्वारा सदस्य नहीं बनने के कारण फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो उठा । उसने गुटबन्दी की नीति अपनायी जिससे विश्व-शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया । (5) पश्चिमी गोलार्द्ध के मामलों में अमेरिका के सहयोग के बिना राष्ट्रसंघ सफल नहीं हो सकता था।

अनुच्छेद 19 के अनुसार "चुभा समय-समय पर संघ के सदस्यों को उन सन्धियों पर पुनर्विचार करने की सलाह दे सकती थी, जो अप्रयोज्य हो गई थी तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को विचारने पर जिनका जारी रखना विश्व शान्ति के लिए घातक हो।

5.6.4 राष्ट्रसंघ का सार्वभौम न होना

राष्ट्रसंघ की सफलता इस बात पर निर्भर थी कि विश्व के अधिकांश राष्ट्र इसके सदस्य हों, परन्तु राष्ट्रसंघ के इतिहास में कभी भी यह मौका नहीं आया जब विश्व के अधिकांश राष्ट्र इसके सदस्य रहे हों। संयुक्त राज्य अमेरिका तो आरम्भ से ही इसका सदस्य नहीं बना, रूस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, बुल्गेरिया आदि राज्यों का संघ में प्रवेश बड़े विलम्ब से हुआ। रूस को 14 वर्ष तक संघ से पृथक रखा गया और जब प्रवेश हुआ तब तक संघ काफी निर्बल हो चुका था। जर्मनी 1926 में राष्ट्र का सदस्य बना, किन्तु 1933 में, राष्ट्रसंघ से अलग हो गया। इसी वर्ष जापान ने भी मंचूरिया के मामले में संघ की अवहेलना करके उससे स्वयं को अलग कर लिया। 1937 में इटली ने संघ से त्यागपत्र दे दिया। जापान, जर्मनी और इटली जैसे महत्वपूर्ण राज्यों के अलग हो जाने से संघ की शक्ति एवं प्रभाव को गम्भीर आघात पहुँचा। 1938 के अंत में इसके सदस्यों की संख्या 63 से घटकर 49 रह गयी थी। अतः सार्वभौमिक शक्ति के अभाव में राष्ट्रसंघ अपने निर्णयों को लागू नहीं कर सका। इस सन्दर्भ में प्रो. शर्मा ने 'इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स' में यह मत व्यक्त किया है : "राष्ट्रसंघ और सम्बद्ध विभिन्न अभिकरण किसी भी समय विश्व बन्धुत्व के ऐसे प्रतीक नहीं बन सके, जिनके प्रति संसार के विभिन्न भागों के निवासियों के मन में प्रेम और निष्ठा की ऐसी भावना उत्पन्न हुई हो, जो एक विश्व संगठन की प्रतिष्ठा और प्राधिकार के विकास में सहायक हो सके !"

5.6.5 राष्ट्रसंघ के प्रति सदस्यों के विभिन्न दृष्टिकोण

राष्ट्रसंघ की सफलता के लिए आवश्यक था कि इसके सदस्य राष्ट्र किसी भी ज्वलन्त मामले को लेकर एक समान दृष्टिकोण अपनाये, ताकि दोषी राष्ट्र के विरुद्ध कुछ कदम उठाये जा सकें परन्तु इसके सदस्यों के हितों में स्वार्थवश विरोधाभास था। विशेष रूप से बड़े राष्ट्रों के मध्य। लिण्डन ए. मेण्डर के मतानुसार "सामूहिक सुरक्षा एवं विश्व शान्ति के भंग होने का प्रमुख कारण राष्ट्रसंघ के प्रति बड़े राष्ट्रों की मनोवृत्ति थी। "अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समय यह देखने में आया कि इसके सदस्यों ने अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के नाम पर विश्व शान्ति एवं न्याय का गला घोट दिया। फ्रांस ने राष्ट्रसंघ को सार्वभौम सुरक्षा का संगठन न मान कर, जर्मनी से सुरक्षा का माध्यम समझा। ब्रिटेन अपने व्यापारिक हितों के कारण जर्मनी के प्रति राष्ट्रसंघ में उदार नीति अपनाता रहा। इसके अलावा कई राष्ट्र साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को कुचलने के लिए संघ का उपयोग करना चाहते थे। मंचूरिया पर जापान के आक्रमण को ब्रिटेन ने इसी उद्देश्य से माफ किया। हिटलर की दृष्टि में राष्ट्रसंघ आँख का वह कांटा था, जो सम्पूर्ण विश्व पर जर्मन-प्रभुत्व स्थापित करने में बाधक था। इटली ने भी कुछ इसी प्रकार की नीति का अनुसरण किया। सोवियत नेताओं की दृष्टि में राष्ट्रसंघ "पिछली दशाब्दी की सबसे निर्लज्ज और चोरों की बनायी हुई वर्साय संधि की उपज" बना रहा। मार्गन्यो ने ठीक ही लिखा है कि "राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की स्थापना करने में असमर्थ रहा क्योंकि संयुक्त राष्ट्र अपनी नैतिकता एवं नीतियों को राष्ट्रसंघ के नैतिक एवं राजनीतिक लक्ष्यों के ऊपर कायम रख सकते थे।"

5.6.6 संघ के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव

राष्ट्रसंघ के पतन का एक प्रमुख कारण उसके सदस्यों द्वारा कर्तव्यों से विमुख होना था। राष्ट्रसंघ की सदस्य बड़ी शक्तियों ने अनुच्छेद 10,11,15 और 16 के अन्तर्गत लगाये गये उत्तरदायित्वों का निर्वहन नहीं किया। उन्होंने अपनी घोषणाओं में भले ही शान्ति की दुहाई दी हो, पर व्यवहारिक रूप से शान्ति की स्थापना के लिए कोई सक्रिय पग नहीं उठाया। फ्रांस और ब्रिटेन ने इस अलिखित समझौते पर आचरण किया कि इटली एवं जर्मनी के कार्यों में कोई प्रभावशाली बाधा न डाल जाए ताकि वे साम्यवाद के खिलाफ जूझ सकें। यह भी देखा गया कि सदस्य राष्ट्रों ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि सही तथ्य संघ के सामने न लाये जा सकें ताकि उन्हें अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए अड़ियल राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी सेनाएं न भेजनी पड़े। जब आक्रामक देशों को विश्वास हो गया कि बड़ी शक्तियां संघ के आदेशों को लागू करवाने के लिए अपनी सेनाएं भेजने के लिए जोखिम लेने को तैयार नहीं हैं, तब ही वे छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़पने का साहस कर सके। जापान द्वारा मंचूरिया पर आक्रमण के समय इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि जोन सीमन ने स्पष्ट कहा था, 'मेरी नीति का उद्देश्य मेरे देश को संकट से दूर रखना है।' इसी प्रकार ईथोपिया के मामले में भी उसने कहा था, 'ईथोपिया के लिए एक भी ब्रिटिश जहाज को खोने का खतरा उठाना नहीं चाहूंगा।' इंग्लैण्ड ने वर्साय की संधि का उल्लंघन करते हुए जर्मनी के साथ नौ-संधि की। इसी प्रकार फ्रांस ने इंग्लैण्ड को सूचित किये बिना इटली के साथ व्यक्तिगत समझौता कर लिया, राइनलैण्ड का पुनः शस्त्रीकरण कर लिया। जर्मनी द्वारा ऑस्ट्रिया को हड़पना और चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग करना, इटली द्वारा स्पेनिश जनतंत्र का गला घोटना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो सदस्य राष्ट्रों में उत्तरदायित्व की भावना के अभाव में घटित हुईं। कोई भी सदस्य राष्ट्र इन घटनाओं के सम्बन्ध में संघ के प्रस्तावों को लागू करवाने को उत्सुक नहीं था। शर्मा ने ठीक ही लिखा है, 'संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा और बुद्धिमत्ता और साहस होता किन्तु इनमें इसका सर्वथा अभाव था। इसलिए जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि स्थल बन गया।'

5.6.7 विश्वव्यापी आर्थिक संकट

1930 के आर्थिक संकट ने भी राष्ट्रसंघ को क्षति पहुँचाई। प्रत्येक राष्ट्र इस आर्थिक संकट के कुप्रभाव से मुक्त होने के लिए अन्य राष्ट्रों की चिन्ता किये बिना राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न आर्थिक उपायों का सहारा लेने लगा जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं विकास को आघात पहुँचा। इस आर्थिक संकट ने जर्मनी में नाजीवाद, इटली के फासीवाद और जापान के सैनिकवाद को पनपाने में मदद पहुँचाई। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि हुई और राष्ट्रसंघ के लिए कार्य करना दुष्कर हो गया। आर्थिक मन्दी ने कई पूंजीवादी देशों में भारी असन्तोष पैदा कर दिया और जनता में साम्यवाद का आकर्षण बढ़ने लगा। पूंजीवादी देश रूस के विरोधी हो गये। उन राष्ट्रों ने रूस विरोधी इटली, जर्मनी तथा जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनायी। इन सभी परिस्थितियों के कारण राष्ट्रसंघ के लिए कार्य करना दुष्कर हो गया।

5.6.8 अधिनायकवाद का विकास

राष्ट्रपति विल्सन और उसके सहयोगियों का विश्वास था कि राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य सामूहिक रूप से विश्व शान्ति, स्वतन्त्रता और लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकास के लिए प्रयत्नशील रहेंगे । परन्तु यूरोप में प्रथम विश्व युद्ध के बाद कई कारणों से जर्मनी, इटली और स्पेन में अधिनायक शक्तियों की स्थापना हुई । हिटलर, मुसोलिनी और जनरल फ्रांको से शान्ति की उम्मीद नहीं की जा सकती थी क्योंकि वे हर सम्भव उपाय द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति चाहते थे । इन अधिनायकों का विश्वास था कि युद्ध सदैव ही अनिवार्य होता है और जिसे शान्ति कहा जाता है वह वास्तव में युद्ध-विराम होता है । फलतः शान्ति की सम्भावना क्षीण होती चली गई और राष्ट्रसंघ में आस्था रखने वाले भी सामूहिक सुरक्षा को नहीं अपितु अपनी-अपनी सुरक्षा की चिन्ता करने लगे ।

5.7 राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

विश्व मंच पर राष्ट्रसंघ के बीस वर्षीय जीवन-काल में उसकी राजनीतिक उपलब्धियों एवं सफलताओं पर विभिन्न मत हो सकते हैं किन्तु यह सत्य है कि सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्राप्त उसकी उपलब्धियों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है । मानव इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि राष्ट्रसंघ के जीवन-काल में पददलित, अल्पसंख्यकों, रागियों, शरणार्थियों और अशिक्षितों की समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार करके उसके निवारण का सामूहिक यत्न किया गया । पहली बार नशीली वस्तुओं और नारियों के व्यापार, बच्चों पर होने वाले अत्याचारों और दास एवं बेगार प्रथा के विरुद्ध राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास शुरू हुए । गैर कानूनी सन्तानों और बालविवाह जैसी समस्याओं पर विचार हुआ । अश्लील साहित्य के प्रकाशन की रोकथाम के भी प्रयास हुए । इन गैर-राजनैतिक कार्यों में विश्व-जनमत, राष्ट्रसंघ के साथ था । किन्तु राष्ट्रसंघ के शान्ति प्रयत्नों की आलोचना का पर्याप्त आधार था ।

प्रायः यह कहा जाता है कि राष्ट्रसंघ को निर्बल या छोटे देशों के विवादास्पद मामलों में ही सफलता प्राप्त हुई । जिन विवादों में एक पक्ष या दोनों ही पक्षों में बड़ी यूरोपीय शक्तियों का हाथ था, वहां राष्ट्रसंघ न्याय करने अथवा शान्ति स्थापित करने में असफल है । अपने जन्म के बाद के कुछ वर्षों तक राष्ट्रसंघ सफल होता-सा लग रहा था, क्योंकि संघ छोटे-छोटे राष्ट्रों के विवादों को सुलझाने में समर्थ दिखने लगा था । इतिहासकार ई. एच. कार ने 'दो महायुद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय संबंध' में लिखा है कि "सन् 1924 से 1930 के वर्ष राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा और सत्ता के वर्ष थे । "इस बीच राष्ट्रसंघ को अनेक ऐसे अवसर मिले जब उसे यूरोप में साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तर्विरोधों से पैदा होने वाले तनावों को कम करने के एक मंच के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । इसके माध्यम से अनेक सन्धियां तय हुईं, यथा पेरिस का समझौता, लोकार्नो सन्धियां इत्यादि । इसने सतही तौर पर सही तनाव रहित वातावरण बनाने में योगदान दिया और अनेक छोटे राष्ट्रों के विवादों शान्तिपूर्ण ढंग से निबटाने में सफलता प्राप्त की । इस काल में ही युद्ध में पराजित और शान्तिकाल में बुरी तरह उपेक्षित जर्मनी को

राष्ट्रसंघ में सम्मानित स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई यद्यपि इस काल में सोवियत रूस बहिष्कृत ही रहा, परन्तु सोवियत संघ और पश्चिम के साम्राज्यवादियों के मध्य दूरी कम करने के प्रयास पश्चिम की ओर से भी हुए जिसमें 1927 में जेनेवा के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेने के लिए सोवियत प्रतिनिधि को भी आमंत्रित किया गया । कुल मिलाकर यह कहना गलत न होगा कि इस काल में राष्ट्रसंघ की सदस्यता का दायरा बढ़ा और उसको शान्ति स्थापित करने या अन्तर्विरोधों का दमन करने की भूमिका निभाने का अवसर मिला और इस कार्य में ठोस-सी दिखने वाली सफलता मिली । यह ज्ञातव्य है कि राष्ट्रसंघ की बैठकों में भाग लेने के लिए राष्ट्रों की ओर से जो प्रतिनिधि आने लगे थे, उनमें बड़े-छोटे राष्ट्रों के उत्तरदायी व प्रभावशाली मंत्री या प्रतिष्ठित राजदूत हुआ करते थे । इस प्रकार राष्ट्रसंघ में उत्तरदायी मन्त्रियों की उपस्थिति से राष्ट्रसंघ एक असाधारण मंच दिखने लगा, जहां विश्वव्यापी समस्याओं को सुलझाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये जाने की सम्भावनाएं जन्म लेने लगी । परन्तु यह आशावादी वातावरण ज्यादा दिन बना न रह सका ।

1930 के पश्चात् राष्ट्रसंघ के जीवन में पतझड़ शुरू हुआ, जबकि पूँजीवादी संसार आर्थिक मन्दी की जकड़ में आने लगा । इस भीषण आर्थिक मन्दी ने पश्चिम के पूँजीवादी समाजों को तेजी से संकट ग्रस्त कर दिया । उनके बीच के अन्तर्विरोध बढ़ने लगे । सत्ताधारी वर्ग अपने बचाव के लिए तरह-तरह की आर्थिक नाकेबन्दी, संरक्षण सीमाकर इत्यादि लगाने को विवश होते गए, फलस्वरूप तनाव की स्थितियां सभी जगह उभरने लगीं । उन स्थितियों से बच निकलने का साम्राज्यवादियों के पास एक ही ही उपाय था कि वे अपने ऊपर आये हुए भार को दूसरों के माथे गढ़ दें । ब्रिटेन और फ्रांस के लिए यह सम्भव था, किन्तु जिन देशों के पास उपनिवेशों का विस्मृत जाल नहीं था उन्होंने विध्वंसक नीतियों का अवलम्बन किया । जापान ने मंचूरिया और शेष चीन पर आक्रमण कर भविष्य में इस प्रकार के रास्ते पर दूसरे देशों को चलने का मार्ग प्रशस्त कर दिया । इसी क्रम में इटली में मुसोलिनी एवं जर्मनी में हिटलर की कार्यवाहियों को देखा जाता है । स्पेन के सैनिक तानाशाहों ने अधिनायकवादी ताकतों के सहारे स्पेन के नवजात गणतन्त्र का गला घोट दिया । एक के बाद दूसरी घटनाओं ने राष्ट्रसंघ की समूची व्यवस्था का खोखलापन जगजाहिर कर दिया ।

इस सबके बावजूद हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राष्ट्रसंघ के स्थापित होने से पहले किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने शान्ति की प्रतिज्ञा की अवहेलना करने पर किसी भी महान् राष्ट्र की आलोचना नहीं की थी और न ही किसी महान् राष्ट्र को दण्डित किया था । पिटमेन बी. पोटर का भी यही अभिमत है ।

असफलता वास्तव में राष्ट्रसंघ की न होकर सदस्य राष्ट्रों की असफलता मानी जानी चाहिए, जैसा "यूरोप सिंस नेपोलियन" में डेविड थॉमसन ने माना है, क्योंकि संघ स्वयं शक्ति का स्रोत न था अपितु इसकी शक्ति का स्रोत इसके सदस्य राष्ट्र ही थे । सदस्य राष्ट्रों के सहयोग की भावना के अभाव में संघ मजबूरन अपने मृत्यु-लेख पर ही हस्ताक्षर कर सकता था । यूरोप के देश शान्ति चाहते थे परन्तु वे शान्ति बनाये रखने के लिए उन समस्याओं को समाप्त करने का साहस नहीं करते थे जो युद्ध को भड़काती हो, । अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना में राष्ट्रसंघ को तभी सफलता मिल सकती थी जब विश्व के समस्त देश प्रतिस्पर्धा,

प्रतिद्वन्द्विता, द्वेष, कूटनीति, गुटबंदी आदि को भूल जाते, परन्तु यह न तो तब सम्भव था और न आज ही सम्भव है ।

राष्ट्रसंघ का पतन उसकी असफलता का प्रमाण हो सकता है लेकिन युद्ध के दौरान संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र की तैयारी और बाद में उसका अस्तित्व में आ जाना इसकी सफलता और उपयोगिता का प्रमाण है । लैंगसम के शब्दों में, "राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को उन्नत करना था । " लैंगसम के विचारों का समर्थन पिट्मेन बी पोटर ने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंटरनेशनल आर्गनाइजेशन' में किया है । वह लिखते हैं, "एक विशिष्ट अर्थ और विशेष परिस्थिति में इतिहास की सबसे बड़ी विफलता और निराशा का द्योतक होते हुए भी, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास में इतिहास की किसी अन्य संस्था से अधिक योगदान दिया । "एफ पी वाल्टर ने 'हिस्ट्री ऑफ दी लीग ऑफ नेशन्स' में यह स्वीकार किया है कि "यद्यपि एक कार्यशील संस्था के रूप में राष्ट्रसंघ के अन्तेष्टि हो चुकी है, तथापि वे आदर्श जिनको उसने बढ़ावा देने का प्रयत्न किया, वे आशाएं जो उसके कारण उत्पन्न हुईं और वह कार्यप्रणाली जिसको उसने अपनाया, सभ्य संसार के राजनैतिक विचारों के महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं । संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों एवं कार्यप्रणाली पर राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है । "दरअसल 18 अप्रैल, 1946 को राष्ट्रसंघ की अन्तेष्टि नहीं हुई थी बल्कि उसका पुनर्जन्म हुआ था ।

राष्ट्रसंघ ने विश्व इतिहास में पहली बार दुनिया के राजनीतिज्ञों को ऐसा मंच प्रदान किया, जिसके माध्यम से वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अपने विचार और सुझाव व्यक्त कर सकते थे । यह भी कहा जाता है कि 19 वीं शताब्दी के गुटों की कूटनीति के बदले राष्ट्रसंघ ने खुली कूटनीति की परम्परा शुरू की थी, यद्यपि संघ असफल रहा । राष्ट्रसंघ ने ही विश्व मानवता को सहयोग का प्रथम सबक सिखाया । वस्तुतः राष्ट्रसंघ एक विश्वव्यापी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के संगठन की दिशा में प्रथम प्रभावशाली कदम था जिसमें मानव समाज के सामान्य हितों के दर्शन होते हैं और जिसने परम्परा, जातिभेद और भौगोलिक पार्थक्य की बाधाओं से ऊपर उठकर कार्य किया ।

काश ! इसके सदस्य निः स्वार्थ भाव से इसका उपयोग करने का निश्चय करते तो यह शान्ति का एक शानदार उपकरण सिद्ध हो सकता था ।

5.8 इकाई सारांश

राष्ट्रसंघ बनाने का विचार लोगों के मन में बीसवीं शताब्दी के पूर्व भी था किंतु 1919 में ही इतने व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हो सकी । प्रथम विश्व-युद्ध की विभीषिकाओं ने राष्ट्रपति विल्सन के अलावा बहुत से व्यक्तियों को इस बात के लिए कटिबद्ध कर दिया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किया जावे । इस राष्ट्रसंघ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम करना था । इसके सदस्य राष्ट्र यह प्रतिज्ञा करते थे कि वे लड़ाई नहीं छेड़ेंगे या गुप्त राजनय में भाग नहीं लेंगे । राष्ट्रसंघ के

विधान में यह प्रावधान रखा गया था कि आक्रमणकारी देश के खिलाफ आर्थिक और सैनिक कार्यवाही की जावेगी ।

संघ को व्यापक आधार देने हेतु अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन, बौद्धिक सहयोग की समिति, स्वास्थ्य संगठन, नारी कल्याण और बाल कल्याण हेतु परामर्शदात्री आयोग आदि की भी स्थापना की गई । आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में संघ को आशातीत सफलता मिली । राष्ट्रसंघ ने दुर्भिक्ष, महामारियों तथा मादक द्रव्यों के तस्कर व्यापार की रोकथाम आदि के लिए जो कार्य किये, उन्हें कम कर आंकने की प्रवृत्ति न्यायोचित नहीं है । बहुत प्रचार किये बिना राष्ट्रसंघ के अभिकरणों ने युद्ध के शरणार्थियों और बन्दियों को उनके घर लौटाया, श्लैस्विग और सार बेसिन जैसे विवादाग्रस्त क्षेत्रों में जनमत संग्रह कराये और दरिद्रताग्रस्त ऑस्ट्रिया, हंगरी और बुल्गेरिया को ऋण दिलवाये। किन्तु राष्ट्रसंघ का जो असली कार्य था-राष्ट्रों की अखण्डता एवं विश्व शान्ति बनाए रखना-वह बहुत ही अधूरा रहा। अनेक वर्षों तक दो प्रमुख देशों-जर्मनी और सोवियतसंघ को उसका सदस्य नहीं बनने दिया गया जबकि भारत को स्वतंत्र राष्ट्र नहीं होने पर भी उसका सदस्य बना लिया गया। अमेरिका ने राष्ट्रसंघ की स्थापना में अहम भूमिका अदा की थी, किन्तु उसी ने अंततः उसमें शामिल न होने का फैसला किया। वस्तुतः राष्ट्रसंघ एक संगठन के रूप में अल्पकाल ही जिंदा रहा। बहुत से लोगों ने संघ को एक ढोंग व ढकोसला माना है जिसका उद्देश्य मित्र राष्ट्रों की बड़ी शक्तियों के स्वार्थपूर्ण इरादों को असली जामा पहनाना था। मंडेट के बारे में भी यह कहा गया है कि यह साम्राज्यवादी शोषण का बदला हुआ रूप ही था। मित्र राष्ट्रों ने शान्ति स्थापना की दिशा में मिलजुल कर कार्य करने का प्रण किया था किन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस में अवसर कई महत्वपूर्ण मसलों पर छत्तीस के अंक का दृष्टिकोण रहा। राष्ट्रसंघ ने छोटी एवं बड़ी शक्तियों के सन्दर्भ में पृथक-पृथक रवैया अपनाया। छोटे राज्यों के मामलों में संघ ने कड़ा कड़ा रुख अख्तियार किया, वही बड़े राष्ट्रों के मामले में संघ नजर बचाकर दूर देखने लगा या उसने कसूर को छोटा बनाने की कोशिश की। इस तरह संघ में बड़ी शक्तियों की तूती बोलती रही। जब-जब उनका स्वार्थ सधा तब-तब उन्होंने राष्ट्रसंघ का सहारा लिया और जब इसकी परवाह न करना ज्यादा फायदेमन्द दिखाई दिया तब इसे ताक में रख दिया। निःसन्देह राष्ट्रसंघ असफल रहा किन्तु इसकी असफलता में ही सफलता की कहानी छिपी हुई है और इसी कहानी के गर्भ में संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ।

5.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी

- सुशील चन्द सिंह : अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, 1919
देवेन्द्र सिंह चौहान : समकालीन यूरोप, 1982
हरगोविन्द पंत : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, 1980
ई. एच. कार : दो विश्व-युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, 1950

English

- Frederick L. Schuman : International Politics, 1953

Pitman B. Potter : An Introduction to the Study of
International Organisations, 1948
Ruth B. Heing (Ed) : The League of Nations, 1973
Norman D. Palmer& : " International Relations, 1954
Parkins, H.C. :

NOTES

NOTES

MAHI-03/ISBN13/978-81-8496-262-8